पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय का नया जवाब

या

एक बातबदलू बौद्धिक बौने की बदहवास, बददिमाग़, बदज़ुबान बौखलाहट, बेवकूफियां और बड़बड़ाहट

परिशिष्ट

पटना के दोन किहोते ने 'द ट्रूथ' से 'यथार्थ' तक पहुंचने में अपना मानसिक सन्तुलन कैसे खोया?

सनी सिंह

पटना के मास्टरजी बहस में बौखलाहट की सारी हदों को पार कर गए हैं। जवाब देने में अपने आपको अक्षम पाने पर, अब वह गाली-गलौच और कुत्साप्रचार पर उतर आए हैं। आलोचना की भाषा राजनीतिक तौर पर चाहे कितनी भी तीखी हो, उसका स्वागत होना चाहिए। लेकिन गाली-गलौच और कुत्साप्रचार का आलोचना में कोई स्थान नहीं होता। लेकिन *माटसाब* जवाब देने में पूर्णत: असफल हो जाते हैं और बदहवासी और बौखलाहट में ऊल-जुलूल बकने लगते हैं। जहां वह जवाब देने का कुछ प्रयास कर रहे हैं वहां वास्तव में वह कुतर्क कर रहे हैं, इतिहास को तोड़-मरोड़ रहे हैं व तथ्यों से आंखें फेर रहे हैं। 'यथार्थ' के 12वें अंक में प्रकाशित *माटसाब* के लेख को पढ़ते ही पाठक समझ जाएंगे कि *माटसाब* राजनीतिक तौर पर वर्ग सहयोगवाद की कार्यदिशा अपनाने, धनी किसानों के कुकर्मों पर पर्दा डालने व लाभकारी मूल्य को क्रान्तिकारी मांग बताने का काम कर रहे हैं। अपने लाजवाब होने को छिपाने के लिए वह हमें बड़ी इजारेदार पूंजी और उनके "तुलनात्मक रूप से बड़े 'ट्रिब्यूट"' का समर्थक बता रहे हैं और खुद को सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधि घोषित कर रहे हैं। उनके इन दावों की पड़ताल हम इस मुख्य लेख में कर चुके हैं, जिसका मौजूदा लेख परिशिष्ट है (http://ahwanmag.com/archives/7726)।

जो भी इस बहस को अब तक पढ़ता रहा है, वह यह देख सकता है कि मास्टरजी हर कदम राजनीतिक तौर पर नग्न होते जा रहे हैं। खैर, उन्हें राजनीतिक रूप से नग्न होना ही था। ख़ास तौर पर 'यथार्थ' के 12वें अंक में वह *'पोस्ट ट्रूथ'* यथार्थ तक आ पहुंचे हैं! 'दि ट्रूथ' के 12वें अंक में उन्होंने हमारी आलोचना का जवाब लिखा था परन्तु 'यथार्थ' में उन्होंने इससे अलग आलोचना लिख दी है। ऐसा लगता है कि 'दि ट्रूथ' के लेख को लिखते समय जवाब देने की अक्षमता पर *माटसाब* जितना बौखलाए हुए थे, 'यथार्थ' के छपते-छपते वह बौखलाहट दांत पीसने और बाल नोचने तक जा पहुंची थी! इसलिए *माटसाब* ने 'दि ट्रूथ' के लेख का अनुवाद छापने की बजाय, 'यथार्थ' में एक अलग ही लेख लिख डाला क्योंकि वह पर्याप्त गाली-गलौच करके बहस में अपनी भद्द पिटने की भड़ांस निकालना चाहते थे। नतीजतन, वह थोड़ा फेरबदल करके 'दि ट्रूथ' के लेख का ही शीर्षक लेते हैं, और 'यथार्थ' में कुछ अन्य ही बातें करने लगते हैं। यह एक ऐसे व्यक्ति की निशानी है, जो दिमाग़ी तौर पर स्थिर नहीं है।

उनका यह बदला हुआ हिन्दी लेख यहां पढ़ा जा सकता है:

https://sarwahara.com/2021/04/18/corporate-ko-lal-salam-kahne-ki-betabi-me-shor-machati-marxwadi-mandli/#_ftnref4

हमारे द्वारा उनकी आलोचना की पिछली तीन किश्तें यहां पढ़ी जा सकती हैं:

http://ahwanmag.com/archives/7714

http://ahwanmag.com/archives/7719

http://ahwanmag.com/archives/7726

खैर, मास्टरजी ने अपने लेखों में जितनी बेईमानी, धूर्तता और अहमकपन का परिचय दिया है, मौजूदा हिन्दी लेख में वह उससे भी आगे जाते हैं। आइए उनके लेखों में अब तक प्रतिपादित कुतर्कों को एक बार फिर आपके सामने रख दें जिससे कि यह साफ़ हो जाए कि हमारे पटना के दोन किहोते पवनचक्कियों से जंग में कहां खड़े हैं?

पटना के दोन किहोते ने पहले धनी किसान आंदोलन की पूंछ पकड़ी। इस प्रयास को क्रान्तिकारी बताया। इसके लिए उन्होंने इजारेदार पूंजी के कृषि में प्रवेश को पूंजीवादी कृषि का दूसरा चरण बताया, जिसके पहले "सामान्य पूंजीवादी खेती" नाम की कोई चीज़ हो रही थी! उनके अनुसार, इस प्रवेश के कारण लाभकारी मूल्य 'नये अर्थ' में एक क्रान्तिकारी मांग बन गई है। मौजूदा लेख में उन्होंने यह खुले तौर पर स्वीकार भी कर लिया है। इसके आधार पर वह धनी किसान आंदोलन में "क्रान्तिकारी अन्तर्य" ढूंढ निकालते हैं। वह बताते हैं कि इस आंदोलन में ग़रीब किसानों का हिस्सा ही क्रान्तिकारी 'अन्तर्य' है और बाहरी खोल के रूप में धनी किसान मौजूद हैं! आगे वह यह भी बताते हैं कि धनी किसानों से लेकर मध्यम किसानों का एक बड़ा हिस्सा इजारेदार पूंजी के आने पर बर्बाद हो जाएगा और इन तबकों में 'क्रान्तिकारी' सम्भावनाएं हैं। वह आय-विश्लेषण करते हुए दावा करते हैं कि 'अति अति धनी किसान' के अलावा, धनी किसान व कुलक भी आज मित्र वर्ग हैं! हमने अपनी आलोचना में दिखलाया है कि यह 'वर्ग' का मार्क्सवादी विश्लेषण नहीं बल्कि समाजशास्त्रीय विश्लेषण है, जो उत्पादन सम्बन्धों को छोड़कर वितरण सम्बन्धों पर आधारित है। इसके आधार पर वह बताते हैं कि 'उचित दाम' की मांग किस प्रकार समाजवाद का आह्वान है। यहां वह सोवियत समाजवाद के इतिहास और समाजवादी संक्रमणकाल के आर्थिक नियमों और बुनियादी मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के साथ दुराचार करते हैं।

अपने अगले लेख में उन्होंने अपने उपरोक्त तर्कों को रूसी क्रान्ति व भारतीय कृषि के इतिहास के विकृतिकरण के ज़रिये "ऐतिहासिक मान्यता" दिलाने की कोशिश की है। उन्हें जो साबित करना है वह उसे पहले से ही मानकर चलने की मज़ाकिया तरक़ीब अपनाते हैं। उन्होंने रूसी इतिहास से यह साबित करने की कोशिश की है कि अक्तूबर क्रान्ति में मज़दूरों के साथ समूची किसान आबादी खड़ी थी और आज पुन: भारत में भी अक्तूबर क्रान्ति के समय के रूस जैसी स्थिति है जहां मज़दूरों के साथ समूची किसान आबादी खड़ी है! यहां वह रूसी क्रान्ति के इतिहास के प्रति अपढ़पन को दुबारा प्रदर्शित करते हैं। जैसा कि हमने इस परिशिष्ट के मूल लेख में बताया है रूसी क्रान्ति ने खेती के क्षेत्र में रैडिकल बुर्जुआ भूमि कार्यक्रम को ही लागू किया था और इसलिए *एक हद तक* समूची किसान आबादी का उसमें साथ आना स्वाभाविक था। लेनिन ने इस बात को स्पष्ट भी किया था। लेकिन उसके बावजूद कुलकों व धनी किसानों के वर्ग का आंशिक सम्पत्ति-हरण किया गया था और साथ ही कुलकों व धनी किसानों का वर्ग अक्तूबर क्रान्ति के दौरान भी गांवों में शत्रु वर्ग की ही भूमिका में था, हालांकि तत्काल उनका सम्पूर्ण सम्पत्ति-हरण एजेण्डा पर नहीं था, क्योंकि अभी तत्काल सामूहिकीकरण का कार्यक्रम एजेण्डा पर नहीं था। इन बुनियादी बातों को भी पटना के दोन किहोते नहीं समझ पाते हैं और अनैतिहासिक तरीके से तुलनाएं व सादृश्य-निरूपण करने का हास्यास्पद प्रयास करते हैं।

वह अपनी उपरोक्त मूर्खतापूर्ण बात को सिद्ध करने के लिए यह भी बताते हैं कि खेती में लगी धनी किसान आबादी और कुलक आबादी 'किसान बुर्जुआजी' की श्रेणी में आती हैं तथा यह आबादी ग्रामीण पूंजीपति वर्ग का हिस्सा नहीं है! वह बताते हैं कि समाजवादी क्रान्ति के 'दूसरे चरण' के शुरू होने के बाद भी सोवियत रूस में धनी किसानों के प्रति पार्टी का रुख उनकी तोड़-फोड़ की गतिविधियों को सीमित करने का और उन्हें प्यार से समझाने-बुझाने का था। उनके अनुसार ऐसा इसीलिए है क्योंकि ये वर्ग दरअसल 'किसान बुर्जुआजी' की श्रेणी में आता है जोकि 'पूंजीवादी तत्व' है लेकिन पूंजीपति वर्ग नहीं है! हमने इस लेख की आलोचना में यह दिखालाया है कि असल में लेनिन के अनुसार 'किसान बुर्जुआजी' और कुछ नहीं बल्कि पूंजीवादी फार्मर ही है और वह ग्रामीण बुर्जुआ वर्ग में ही आता है। इसे किसी वर्ग-रहित श्रेणी में रखना नरोदवादी समझदारी ही है। वह यह भी बताते हैं कि किसान बुर्जुआजी की न ही इजारेदार पूंजीपति वर्ग से और न ही प्रतिक्रियावादी सामन्ती व भूस्वामी वर्ग से तुलना करनी चाहिए। हमने इस परिशिष्ट के मूल लेख में इसका जवाब विस्तार से दिया है और बताया है कि लेनिन की या स्तालिन की ऐसी कार्यदिशा कतई नहीं थी और *माटसाब* अपने कुतर्कों को ढांपने के लिए लेनिन व स्तालिन को विकृत करने का काम कर रहे हैं।

अभी तक पटना के दोन किहोते अपने सैद्धान्तिक गुरू यानी सोशल मीडिया के कुर्सीतोड़ "वामपंथी"पत्रकार महोदय की सैद्धान्तिक जुगाली से गिरे चूरे बटोकर कर ले आया करते थे और उससे काम चलाया करते थे। लेकिन उससे काम न चला तो इस बार *माटसाब* अपने गुरू को साक्षात इस बहस में साथ लेकर आए हैं! लेकिन उससे इस कुलकवादी गिरोह का और भी कचरा हो गया है, क्योंकि *माटसाब के माटसाब* यानी मुकेश असीम ने मूर्खता का ऐसा वज्रपात किया है, जो ग़ज़ब ही है और उस नाम को तर्कसिद्ध करता है, जो हमने उन्हें दिया है: मूर्खेश असीम! मुकेश असीम का लेख यह साबित करने का प्रयास करता है कि भारतीय कृषि में 1990 तक पहला दौर था जब कृषि अतिउत्पादन के संकट से मुक्त थी और किसान मुक्त बाज़ार के समर्थक थे! इस दौर में उनके अनुसार किसान एमएसपी पर फसल नहीं बेचना चाहते थे और उसके बाद वे एमएसपी के दीवाने हो गये, क्योंकि अब मुक्त बाज़ार में दाम गिर गये थे! हमने अपने मूल लेख (जिसका कि मौजूदा लेख परिशिष्ट है) में तथ्यों समेत दिखलाया कि मूर्खेश जी के इस दावे का वास्तविकता से दूर-दूर तक कोई रिश्ता नहीं है। यह भारतीय कृषि के इतिहास का मनगढ़न्त ब्यौरा है और इसीलिए मूर्खेश जी ने कोई आंकड़ा या उसका स्रोत देने की आवश्यकता महसूस नहीं की है। मूर्खेश जी आगे बताते हैं कि यह मांग आज कृषि में इजारेदार पूंजी के प्रवेश पर समस्त फसल की ख़रीद की गारण्टी की मांग में तब्दील हो गई है। वह महाभारत में कृष्ण की तरह पटना के दोन किहोते को कुलक-गीता का सार बताते हैं कि: "हे पार्थ! कृषि में अतिउत्पादन की वजह से आर्थिक संकट आया है और अब इजारेदार पूंजी के प्रवेश होने पर यह एक व्यवस्था-विरोधी मांग में तब्दील हो गई है।'' हम पाठकों से आग्रह करेंगे कि विस्तृत आंकड़ों के ज़रिये मूर्खेश जी की लफ्फाज़ी को समझने के लिए हमारा मूल लेख (http://ahwanmag.com/archives/7726) पढ़ें। दरअसल, मुकेश असीम का लेख भी लेखक महोदय यानी *माटसाब* की अपनी 'किसान बुर्जुआजी पूंजीपति वर्ग नहीं है' की मूर्खतापूर्ण सोच और समूची किसान आबादी को सर्वहारा क्रान्ति में साथ लेने की अवधारणा को पुष्ट करने का साधन मात्र है, हालांकि यह काम नहीं आता।

'द ट्रूथ' के लेख के परिशिष्ट में उन्होंने आगे हमारी आलोचना का जवाब देने का एक हास्यास्पद प्रयास किया है। परन्तु यहां वह सीधे निपट धूर्तता पर उतर आए हैं। बौखलाहट में आकर इस लेख में उन्होंने और अधिक मूर्खतापूर्ण हरकतें की हैं। इसमें इन्होंने हमारी अवस्थिति का पुतला खड़ा कर ज़ोरदार तरीके से गत्ते की तलवार भांजी हैं। वह अपने सांचो पांज़ाओं की छोटी-सी बच्चा पार्टी के समक्ष अपनी इज्जत बचाने के प्रयास में इतनी मूर्खताएं करते हैं कि सोचकर अचरज होता है। इनके द्वारा लेख के परिशिष्ट में हमें इजारेदार पूंजी का समर्थक घोषित करने की कोशिशें की गई हैं और हमारी कुछ आलोचनाओं का मूर्खतापूर्ण जवाब दिया गया है। इसमें इन्होंने उनके कुलक-समर्थक बुखारिनपन्थी होने, समाजवादी संक्रमणकाल में श्रमशक्ति को माल बताने, राज्य और सामूहिक फार्म के बीच फसल विनिमय का उल्टा-सीधा काल्पनिक विवरण देने की हमारे द्वारा की गयी आलोचना का जवाब देने की प्रक्रिया में अपनी "बुद्धि'' की अश्लील नुमाइश पूरी कर दी है।

'यथार्थ' के नये लेख में मास्टरजी ने अपनी आर्थिक संकट की अवधारणा उजागर की है। मास्टरजी और मुकेश असीम अतिउत्पादन को आर्थिक संकट का *कारण* बताते हैं और यह समझने में अपनी अक्षमता प्रकट करते हैं कि संकट का मूलभूत कारण मुनाफे की औसत दर में गिरने की दीर्घकालिक (secular) प्रवृत्ति है और उसकी एक अभिव्यक्ति अतिउत्पादन व पूंजी का आधिक्य और साथ ही अल्पउपभोग है। 'द ट्रूथ' में मुकेश असीम ने अपने लेख में भारत में आज़ादी के बाद कृषि में पूंजीवादी विकास का एक मूर्खतापूर्ण और मनगढ़न्त "इतिहास" पेश किया था। मास्टरजी भी एक वफ़ादार शिष्य की तरह इस प्रस्तुति को स्वीकार करते हैं। 'यथार्थ' के मौजूदा लेख में मास्टरजी ने खुलकर इस प्रस्तुति के पीछे काम कर रही समझदारी को उजागर किया है। *माटसाब* मानते हैं कि आज इजारेदार पूंजीवाद विस्तारित पुनरुत्पादन करने में सक्षम नहीं है! अतिउत्पादन के चलते विश्व अर्थव्यवस्था केवल सट्टेबाजी में ही नया निवेश कर सकती है! यह पूरी समझदारी ग़लत है। सट्टेबाज़ी में अधिक निवेश कब होता है? जब लाभप्रद निवेश के अवसरों की तुलना में पूंजी का आधिक्य हो। मार्क्स ने बताया था कि पूंजी का कोई भी आधिक्य वह आधिक्य होता है, जिसे मुनाफे की औसत दर पर निवेशित नहीं किया जा सकता। मुनाफे के औसत दर के गिरने के संकट की ही एक अभिव्यक्ति यह पूंजी का आधिक्य होता है, जो सट्टेबाज़ी में जाता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि निरपेक्ष रूप से विस्तारित पुनरुत्पादन इस पूरे चरण के लिए रुक जाता है। ऐसा केवल संकट के गहराने के चरण में होता है, जैसा कि हम आगे देखेंगे। किसी पूरे दीर्घकालिक चरण में विस्तारित पुनरुत्पादन का न होना पूंजीवादी व्यवस्था के लिए सम्भव ही नहीं है। ऐसा हो भी नहीं रहा है, जैसा कि हम आगे देखेंगे। बहरहाल, यह रोज़ा लक्जेम्बर्ग के 'इनएविटेबल कॉलैप्स' के सिद्धांत की ओर ले जाता है, जो कि रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग के अल्पउपभोगवादी सिद्धान्त से ही पैदा होने वाली समझदारी है। आगे हम *माटसाब* की आर्थिक संकट की इस पूरी समझदारी की विस्तृत आलोचना रखेंगे।

मास्टरजी की पूंजीवादी राज्य की पूंजीपति वर्ग से सापेक्षिक स्वायत्तता की मार्क्सवादी समझदारी से और साथ ही जनवाद की हिफाज़त करने में मज़दूर वर्ग की हिरावल भूमिका से अपनी अनभिज्ञता को भी जाहिर कर किया है। इस लेख में मास्टरजी ने हमें अहंकारपूर्ण लफ्फाजी में बहते हुए रूस की खेती में इजारेदार पूंजी के प्रवेश को दर्शाने की चुनौती भी दी है। हमने तथ्यों के जरिये पाठको के समक्ष क्रान्ति-पूर्व रूस की तस्वीर पेश की है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रूस की खेती में इजारेदार पूंजी का प्रवेश बैंकों के जरिये हो चुका था। इसका ही नतीजा था कि स्तोलिपिन सुधारों के बाद खेती में किसान आबादी का वर्ग विभेदीकरण तेज़ी से बढ़ा। लेकिन इस विषय में लेनिन के लेखन से *माटसाब* अनभिज्ञ हैं। वैसे अभी तक हम देख चुके हैं कि आम तौर पर ही *माटसाब* मार्क्सवाद-लेनिनवाद के सिद्धान्तों से अनभिज्ञ हैं। साथ ही, मास्टरजी के लेखन से यह भी साबित होता है कि उन्हें क्रान्ति-पूर्व रूस के इतिहास की भी कोई जानकारी नहीं है।

उन्होंने हमारे पहले जवाब की आलोचना में यह कहा था कि हमने उनके लेखन के बारे में ग़लतबयानी की और उसे तोड़ा-मरोड़ा है। हमने उनके उद्धरणों और हमारे जवाबों को सिलसिलेवार तरीके से उनके सामने रखा था और दिखाया था कि मास्टरजी सफ़ेद झूठ बोल रहे हैं। अपनी ग़लती को स्वीकार करने की जगह पटना के दोन किहोते नया करतब अपनाते हैं। इस लेख में उन्होंने भी हमारी पद्धति को अपनाने का एक असफल प्रयास किया है। वे हमारी ही तरह हमें और खुद को उद्धृत करते हैं परन्तु इसमें वे तर्क की जगह झूठ, हेर-फेर से यह सिद्ध करना चाहते हैं कि हमारी आलोचना ठीक नहीं थी। हम दिखाएंगे कि वे केवल पन्ने रंग रहे हैं, जिसमें से तथ्य, तर्क और सच ग़ायब हैं। दरअसल यहां वह खुद को दुहराते रहते हैं।

उन्होंने हमारी इस आलोचना को सही साबित किया है कि उनके दिमाग के कबूतरखाने में अंकगणित के कुछ रटे हुए समीकरण घुसे हुए हैं और उन्हें बुनियादी मार्क्सवादी तर्क की तो छोड़िये अंकगणित की समझदारी भी नहीं है। परन्तु एक चीज़ जो ग़ौर करने लायक है वह यह कि मास्टरजी न सिर्फ पटना के एक संजीदा संगठन के लेखन से चोरी करते हैं बल्कि वह हमारे ही विश्लेषण को भी ऐसे पेश करते हैं जैसे वह उन्हें पहले से ज्ञात था या उनका मौलिक विश्लेषण था। वह सोवियत समाजवाद में प्राप्ति दाम, बिकवाली दाम और कोलखोज बाज़ार की मौजूदगी को स्वीकारते हैं परन्तु यह भी ऐसे करते हैं कि मानो इन्हें इनका पहले ही इल्हाम था, हालांकि उनके प्राथमिक लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि *माटसाब* को सोवियत समाजवाद में कृषि प्रश्न के समाधान के इतिहास के विषय में उतनी ही जानकारी है, जितनी कि मोदी को 'क्लाइमेट चेंज' के बारे में! वह लाभकारी मूल्य पर अपनी पुरानी अवस्थिति से 180 डिग्री का 'यूटर्न' मारते हुए लाभकारी मूल्य को ट्रिब्यूट के रूप में स्वीकारते हैं और लेनिन द्वारा साम्राज्यवाद को ऐतिहासिक तौर पर प्रगतिशील होने को स्वीकारते हैं (हालांकि इसका भोण्डा मूल्यांकन करते हैं)। वह ये कार्य ऐसे करते हैं कि मानो वह शुरू से यही कह रहे थे! लेकिन कोई भी पाठक पूरी बहस में उनकी बदलती हुई अवस्थितियों और चौर्य-लेखन व चौर्य-चिन्तन को सीधे पकड़ सकता है।

दूसरा वह हमारे व्यंग्य और शैली तक को चोरी करते हैं। दोन किहोते के रूपक का पटना का दोन किहोते मज़ाकिया इस्तेमाल करते हुए "मैनी इन्वर्टेड दोन किहोते" की उपमा ईजाद करता है और यह भी दावा करता है कि दोन किहोते के तो "फिर भी कुछ आदर्श थे"! अब पाठक स्वयं सोचें: क्या ऐसे बौद्धिक बौने व्यक्ति को गम्भीरता से लिया जा सकता है? अगर इन महोदय को यह उपमा या रूपक इस्तेमाल करना ही था (माने कि *माटसाब* मचल गये थे) तो फिर कम-से-कम इस रूपक का जो स्रोत है, उसे तो पढ़ लेना चाहिए था। लेकिन "क्योंकि अमर रस्सी पकड़कर चढ़ा, इसलिए मैं भी रस्सी पकड़कर चढ़ूंगा" की तर्ज पर *माटसाब* इस रूपक का इस्तेमाल करने का जोखिम-भरा प्रयास करते हैं और भर मुंह माटी ले लेते हैं (इस रूपक को समझने के लिए *माटसाब* 'अन्दाज़ अपना अपना' फिल्म देखें; अब हम उन्हें आसान रूपक दे रहे हैं क्योंकि सरवान्तेस के उपन्यास के रूपक के साथ उन्होंने क्या ज़्यादती की है, वह सभी पाठक देख चुके हैं)।

जहां *माटसाब* खुद व्यंग्य करने की कोशिश करते हैं वहां इनके मुंह से बस खट्टी उबकाइयां ही आती हैं। इनके सारे उदाहरण ज्यादातर टीवी चैनलों की बहसों से आते हैं। ये अपने 'ज्ञान स्रोत' के अनुसार ही 'मोदी बन जाओ', 'प्रधानमंत्री बन जाओ' और 'अतीत की बातें क्यों करते हो' सरीखी बातें करते हैं। वह गाली-गलौच करते हुए "कायर", "कॉरपोरेट के दलाल" शब्द बोलकर अपनी भड़ास निकालते हैं। इस लेख में वह निहायत ही निकृष्ट स्तर पर पहुंचते हुए फिर हमारे खिलाफ़ कुत्साप्रचार करते हैं जिनका जवाब देना हम कम्युनिस्ट शान के ख़िलाफ़ समझते हैं। **लेकिन यहां एक बात समझने वाली है: राजनीतिक व्यंग्य को प्रभावी तरीके से करने के लिए आपके पास तर्क और तथ्य होने चाहिए, साहित्यिक शैली की समझदारी होनी चाहिए और सबसे महत्वपूर्ण यह कि यह कार्य ठण्डे दिमाग़ से किया जा सकता है। लेकिन *माटसाब* हमारी आलोचना के जवाब में लाजवाब होने और अपनी बच्चा पार्टी के सामने बेआबरू होने के चलते एकदम किलकिला गये हैं; वह दांत पीसते हुए और बाल नोचते हुए लिख रहे हैं; उनका दिमाग़ तन्दूर की तरह गरम हो गया है; ऐसे में राजनीतिक व्यंग्य करना सम्भव नहीं होता। और अगर आप करने का प्रयास करते हैं, तो वह आपका ही रायता फैला देता है। *माटसाब* के साथ यही हुआ है। उनका हर व्यंग्य उन पर ही हंसने का कारण बन गया है।**

इनकी पत्रिका के ही एक और संपादक सत्यवीर सिंह ने अतीत में हमारे द्वारा एक त्रात्स्कीपंथी संगठन की आलोचना के सार पर बात करने की जगह गिनती कर यह बताया था कि हमारी आलोचना में कितनी बार मूर्ख को मूर्ख कहा गया है। मूर्ख शब्द की इस संख्या (हालांकि वह मूर्खता के स्तर की तुलना में हमने अपने आपको काफ़ी रोककर इस्तेमाल किया था) पर इन्होंने हाय-तौबा मचाई थी। यह राजनीतिक व्यंग्य था जिसमें गाली-गलौच नहीं की गई थी। सत्यवीर सिंह मार्क्सवादियों के बीच तीखी बहस की परम्परा से अपनी अनभिज्ञता को ही उजागर करते हैं। परन्तु वह जिस पत्रिका में संपादक बन बैठे हैं उसमें पटना के इस बौद्धिक बौने की गाली-गलौच और कुत्साप्रचार इनको बाख़ का ईश-वंदना सा मधुर संगीत प्रतीत हो रहा है। वैसे अब जबकि वह धनी किसान आंदोलन के खालसा दिवस मनाने, 'संविधान बचाओ' जैसे नारे लगाने पर भी चुप्पी साधे हुए हैं, तो इनसे वैचारिक प्रतिबद्धता की उम्मीद करना ही बेकार है। यह पहले अन्ना आंदोलन में भीड़ देखकर मत्था टेकते थे और अब धनी किसान आंदोलन में भीड़ देखकर मत्था टेकने आ गए हैं। 'यथार्थ' के सम्पादक मंडल का संघटन ही भानुमति के कुनबे या शंकर जी की बारात के समान है जिसका मार्क्सवाद से कोई लेना-देना नहीं है। इसमें एसयूसीआई से अलग-अलग समय पर निकले कुछ लोग हैं, जो पद्धति के धरातल पर अभी भी त्रात्स्कीपंथ के बेताल को अपने कन्धे पर लिए घूम रहे हैं और इनके प्रमुख योगदानकर्ताओं में से एक अजय सिन्हा, यानी पटना के दोन किहोते, के त्रॉत्स्कीपंथी जनेऊ, काऊत्स्कीपंथी टीके और बुखारिनपंथी छाप को हम मूल लेख में उजागर कर ही चुके हैं। मतलब, ग़ज़ब का 'डेडली कॉम्बीनेशन' है यह पत्रिका!

हम इस परिशिष्ट में उनके द्वारा पेश नये कुतर्कों, नये झूठों और ग़लतियों की ओर ही इशारा करेंगे क्योंकि मूल लेख में उनके सभी तर्कों का ससन्दर्भ, सप्रमाण और सोदाहरण विस्तृत खण्डन किया जा चुका है।

1. बदहवासी में मास्टरजी जनवादी अधिकार और “नरसंहार के अधिकार” का फ़र्क भूले!

'यथार्थ' के नये लेख को पढ़ने के बाद यह साफ़ हो जाता है कि मास्टरजी उर्फ पटना के दोन किहोते को बुनियादी मार्क्सवाद का 'क ख ग' भी नहीं आता है। **सम्भवत: उन्होंने वाम दायरे की बैठकों में बस अपने ''पराक्रम'' की डींगें हांकने में ही वक़्त निकाल दिया है, कि कब भारत की पूरी राज्यसत्ता हाथ धोकर उनके पीछे पड़ गयी थी! हालांकि दोन किहोते-सरीखी काल्पनिक वीरता की कहानियों की पोल उनके पुराने साथी ही आये-दिन खोलते रहते हैं!** बहरहाल, मास्टरजी आंदोलन के प्रति आलोचनात्मक रुख रखने और उसका विरोध करने में फर्क को ‘बकवास’ बताते हैं। हमने उनके इस छिछले आरोप का कि हम इस आंदोलन का विरोध करते हैं, का जवाब दिया था कि हम इस आंदोलन की आलोचना करते हैं परन्तु धनी किसानों के सरकार के खिलाफ़ आंदोलन करने के जनवादी अधिकार का समर्थन करते हैं। इस पर *माटसाब* कहते हैं कि लोगों का कत्ल करना और उनका शोषण करना भी ज़मीन्दारों और युद्ध सरदारों का 'जनवादी अधिकार' होता है और हमें (यानी ‘आह्वान’ को) इनका भी समर्थन करना चाहिए! वह कहते हैं कि:

"लेकिन ऐसा जनवादी अधिकार तो पूंजीवादी जनवाद में पूंजीपतियों, जमींदारों, युद्ध सरदारों और नरसंहारकर्ताओं तक को भी प्राप्त है, तो उसका भी विरोध नहीं करेंगे आप? बस आलोचना करेंगे? यह कौन सा तर्क है। किसी के पल्ले पड़े तो बताएं।" (कॉर्पोरेट को लाल सलाम कहने की बेताबी में शोर मचाती ‘महान मार्क्सवादी चिंतक’ और ‘पूंजी के अध्येता’ की ‘मार्क्सवादी मंडली’ का घोर राजनैतिक पतन [2], 'यथार्थ' अंक 12)

हमने पिछले लेख में ही कहा था कि मास्टरजी मैकाले की शिक्षा-पद्धति के भारतीय समाज पर कुप्रभावों का प्रातिनिधिक जीवाश्म हैं। हमारे समाज में ऐसे क्लर्क मानस की जमात भरी हुई है जिनका दिमाग अंकगणित के समीकरणों को, इतिहास की कुछ घटनाओं को अपने दिमाग के कबूतरखानों में घुसाकर खुद को बुद्धिजीवी समझता है। कोचिंग सेंटर चलाने वाले मास्टर खासतौर पर इस प्रजाति के लोग होते हैं जिनकी बुद्धिसंगत ज्ञान तक पहुंचने की क्षमता को उनकी क्लर्कियत खा जाती है। ऊपर से तुर्रा यह कि मास्टरजी पटना में जनवादी अधिकार संगठन में भी शामिल है! हम हमारे मूर्ख मास्टरजी से ही पूछते हैं कि क्या वह जनवादी अधिकार संगठन में नरसंहारों और शोषण को जनवादी अधिकार मानते हैं?

स्पष्ट है कि *माटसाब* को जनवादी अधिकार का अर्थ नहीं पता है। एक बुर्जुआ जनवाद भी औपचारिक तौर पर अभिव्यक्ति की, एकत्र होने की और संगठित होने की स्वंतत्रता हर नागरिक को देता है। हालांकि, चूंकि यह बुर्जुआ जनवाद है, इसलिए जैसे-जैसे हम वर्ग पदानुक्रम में नीचे जाते हैं, वैसे-वैसे ये अधिकार वास्तविक से ज़्यादा औपचारिक होते जाते हैं। क्या सर्वहारा वर्ग का हिरावल जनवादी और नागरिक अधिकारों की हिफ़ाज़त को अपना कार्यभार मानता है? हां, मानता है। क्या दूसरों का नरसंहार करना, उनका उत्पीड़न करना या शोषण करना जनवादी अधिकारों में आता है? नहीं! क्यों? क्योंकि यह किसी अन्य नागरिक या नागरिकों के जनवादी अधिकारों के दायरे का अतिक्रमण करता है, उनका उल्लंघन करता है। जब कोई नागरिक किसी अन्य नागरिक की आज़ादी को छीनने का कार्य करता है, उसके जनवादी अधिकारों का हनन करता है, तो यह उसका जनवादी अधिकार नहीं माना जाता।

बुर्जुआ समाज में पूंजी व निजी सम्पत्ति को भी कुछ अधिकार प्राप्त हैं। वे उसका जनवादी अधिकार नहीं हैं, बल्कि इस व्यवस्था द्वारा मिलने वाले संघनात्मक (constitutive) संवैधानिक आर्थिक अधिकार हैं; मज़दूर वर्ग को इन अधिकारों के बरक्स कुछ औपचारिक जनवादी अधिकार मिलते हैं, जो कहने के लिए उन्हें "शोषण" से बचाने के लिए हैं! बताने की आवश्यकता नहीं कि पूंजीवादी व्यवस्था के लिए ‘शोषण’ का अर्थ केवल असमान विनिमय में निहित होता है, इसलिए वह बेगारी और मज़दूरी मारे जाने आदि को तो शोषण मानती है, लेकिन श्रमशक्ति के शोषण को नहीं, क्योंकि वहां मूलत: समतुल्यों का ही विनिमय हो रहा है। लेकिन जनवादी अधिकारों व नागरिक अधिकारों के लिए संघर्ष के मुद्दे पर हम इस मसले पर बहस नहीं कर सकते, क्योंकि राजनीतिक जनवाद का प्रश्न आर्थिक शोषण को समाप्त करने के प्रश्न से यानी समाजवाद के लिए संघर्ष के प्रत्यक्ष तौर पर नहीं जुड़ा है, बल्कि ऐतिहासिक तौर पर जुड़ा है क्योंकि राजनीतिक जनवाद ही वह ज़मीन होती है, जिस पर सर्वहारा वर्ग समाजवाद के लिए अपने संघर्ष को सबसे कारगर ढंग से कर सकता है।

जब हम नागरिकों के उन जनवादी अधिकारों की बात करते हैं जो कि पूंजीवादी व्यवस्था उन्हें कम-से-कम सैद्धान्तिक तौर पर देती है, तो वे मूलत: मुक्त प्रेस का अधिकार,

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, एकत्र होने की स्वतंत्रता, और संगठित होने का अधिकार होता है, जिनका कि सर्वहारा वर्ग भी समर्थन करता है। क्या इन बुर्जुआ जनवादी अधिकारों की रक्षा सर्वहारा वर्ग अपना कर्तव्य मानता है? हां, क्योंकि बुर्जुआ जनवाद सर्वहारा वर्ग संघर्षों को विकसित करने की मुफ़ीद ज़मीन मुहैया कराता है, जैसा कि लेनिन ने कहा है। क्या हर *संवैधानिक* अधिकार का हम समर्थन करते हैं? हम पूंजीवादी जनवाद द्वारा दिये जाने वाले उन *जनवादी* अधिकारों का समर्थन करते हैं, जो सर्वहारा वर्ग के लिए और अन्य मेहनतकश वर्गों के लिए भी अनिवार्य होते हैं। यहां पर *माटसाब* ने उस फर्क के बारे में अपनी अनभिज्ञता भी प्रदर्शित कर दी है, जो कि भारत और पूरी दुनिया में मार्क्सवादियों द्वारा जनवादी अधिकार आन्दोलन में हमेशा किया गया है: **जनवादी अधिकार और संवैधानिक अधिकार में अन्तर।** हमारे देश में पीयूडीआर के बनने के समय बहस का एक मसला यह भी था कि एक जनवादी अधिकार आन्दोलन का मकसद महज़ *संवैधानिक* अधिकारों की रक्षा करना नहीं है, जो कि संविधान व विधि में दर्ज हैं, बल्कि आम तौर पर *जनवादी* अधिकारों की रक्षा करना है, जो कि ज़रूरी नहीं कि संविधान में दर्ज ही हों। सभी संवैधानिक अधिकार एक पूंजीवादी व्यवस्था में जनवादी अधिकार नहीं होते हैं, हालांकि तमाम जनवादी अधिकार संवैधानिक तौर पर भी मान्यता प्राप्त और कानूनी तौर पर दर्ज हो सकते हैं। हम आन्दोलन करने, प्रदर्शन करने और संगठित होने के जनवादी अधिकारों को इसमें सबसे महत्वपूर्ण मानते हैं और किसी भी वर्ग के इस अधिकार के हनन का विरोध करते हैं, क्योंकि ये सर्वहारा वर्ग और मेहनतकश वर्गों के लिए भी अनिवार्य और अपरिहार्य हैं। जब हम राज्यसत्ता द्वारा (फासीवादी प्रतिक्रियावादी आन्दोलन के अतिरिक्त, क्योंकि वे होते ही जनवाद के नाश, जनसंहार और प्रतिक्रिया के लिए हैं) किसी भी आन्दोलन के दमन का समर्थन करते हैं, तो यह पूंजीवादी राज्यसत्ता द्वारा दमन के अधिकार का सामान्य समर्थन होता है। लेकिन *माटसाब* जनवादी अधिकारों और संवैधानिक अधिकारों में भ्रमित हो जाते हैं और इसी वजह से "जनसंहार, उत्पीड़न व शोषण के अधिकारों" की बात करने लगते हैं, हालांकि जनसंहार और उत्पीड़न करना औपचारिक तौर पर भी संवैधानिक अधिकार नहीं हैं! **यह भी मार्क्सवाद की बुनियादी समझदारी के इस व्यक्ति में नितान्त अभाव को दिखलाता है।**

यह जनवादी अधिकारों की बुनियादी मार्क्सवादी समझदारी है। लेकिन *माटसाब* प्रदर्शन व आन्दोलन करने के जनवादी अधिकार की तुलना नरसंहार करने के अधिकार से करते हैं! दूसरी बात, हम आन्दोलन करने के जनवादी अधिकार की "आलोचना मात्र" भी नहीं करते हैं, बल्कि उसका तो हम बिना शर्त समर्थन करते हैं। हम आन्दोलन के मांगपत्रक, उसके वर्ग चरित्र और उसकी राजनीति व विचारधारा की आलोचना करते हैं और यह स्पष्ट करते हैं कि यह सर्वहारा वर्ग और मेहनतकश वर्गों के हितों की सेवा नहीं करता है और इसलिए **इस आन्दोलन को करने के जनवादी अधिकार की हिमायत करते हुए भी, हम इस आन्दोलन की आलोचना करते हैं।** यह बड़ी सीधी और स्पष्ट-सी बात है, जो कि किसी दसवीं के बच्चे को भी समझाई जा सकती है। लेकिन कुलक वर्ग जैसी ही तर्क क्षमता और संस्कृति रखने वाले किसी बौद्धिक बौने को नहीं। क्या ऐसे व्यक्ति को तत्काल चिकित्सीय देखरेख की आवश्यकता नहीं है? क्या ऐसे व्यक्ति का मानसिक सन्तुलन सही माना जा सकता है?

हम जब मौजूदा धनी किसान आंदोलन के जनवादी अधिकार की बात कर रह हैं तो हमारा मतलब यह है कि छोटे पूंजीपति वर्ग को भी यह जनवादी अधिकार है कि सरकार के खिलाफ़ अपना आंदोलन खड़ा करें। हम उनकी मांगों से असहमत होते हुए भी *उनके आंदोलन करने और अपनी बात रखने के उनके हक के* पक्षधर हैं, जिसका "जनसंहार के अधिकार" से कोई मतलब ही नहीं है और ऐसी तुलना भी पटना का यह बौद्धिक बौना ही कर सकता था। इसका दूसरा पहलू यह है कि हम *लिबरलों* की तरह जनवाद को निरपेक्ष नहीं मानते हैं। जनवाद शासन का एक रूप है जिसका दूसरा पहलू तानाशाही होता है। बुर्जुआ जनवाद बुर्जुआ वर्ग की तानाशही होता है परन्तु इसका मतलब यह नहीं होता कि सर्वहारा वर्ग जनवादी अधिकारों के लिए नहीं लड़ता है। बल्कि जनवाद का दूसरा पहलू, यानी उसके किसी वर्ग की तानाशाही होने का पहलू भी, जनवादी अधिकारों की रक्षा के लिए संघर्ष के ज़रिये ही उजागर होता है। लेनिन 'क्या करें' में कहते हैं कि सर्वहारा वर्ग जनवादी अधिकारों के लिए लड़ाई में हिरावल की भूमिका निभाता है। इस प्रक्रिया में ही सर्वहारा वर्ग जनता के समक्ष अन्य वर्गों के असल चेहरे को उजागर करता है। लेनिन कम्युनिस्ट और एक ट्रेड यूनियन नेता की राजनीति में अन्तर करते हुए बताते हैं:

"In a word, every trade union secretary conducts and helps to conduct “the economic struggle against the employers and the government”. It cannot be too strongly maintained that *this is still not* Social-Democracy, that the Social-Democrat’s ideal should not be the trade union secretary, but *the tribune of the people*, who is able to react to every manifestation of tyranny and oppression, no matter where it appears, **no matter what stratum or class of the people it affects**; who is able to generalise all these manifestations and produce a single picture of police violence and capitalist exploitation; who is able to take advantage of every event, however small, in order to set forth *before all* his socialist convictions and his democratic demands, in order to clarify for *all* and everyone the world-historic significance of the struggle for the emancipation of the proletariat." (Lenin, **What is to be done?** *emphasis ours*)

लेनिन जिस अर्थ में हर वर्ग के आंदोलन के जनवादी अधिकार की बात कर रहे हैं उसी अर्थ में हम धनी किसान के आंदोलन करने के जनवादी अधिकार को स्वीकार करते हैं और इस आंदोलन के पुलिसिया दमन का विरोध करते हैं। परन्तु ऐसा करते हुए भी हम अपने विचारों को नहीं छिपाते हैं। हम कम्युनिस्ट हैं और इस आंदोलन की सर्वहारा नज़रिये से आलोचना करते हैं। वहीं हम फासीवादी आंदोलन की आलोचना नहीं करते बल्कि उसे कुचलने की बात करते हैं। यह इस बौद्धिक बौने की राजनीतिक समझदारी है कि वह इन सामान्य बातों को भी नहीं समझ पा रहा है, जो कि दुनिया भर में कम्युनिस्टों की साझा राजनीतिक समझ का अंग बन चुकी हैं! हमारी सलाह है कि पटना के दोन किहोते महोदय एक बार *माटसाब* बनकर नहीं बल्कि एक विनम्र विद्यार्थी के रूप में **किसी की मदद से** मार्क्सवाद-लेनिनवाद की बुनियादी पुस्तकें पढ़ें, वरना इसी प्रकार अपनी भद्द पिटवाते रहेंगे।

2. छोटी पूंजी, बड़ी पूंजी और मास्टरजी की छोटी-बड़ी मूर्खताएं

हम यह तो देख ही चुके हैं कि मास्टरजी समय-समय पर अपनी इज्ज़त बचाने के लिए साधू गोरेन्फ्लो का करतब करते रहते हैं। 'यथार्थ' में आए लेख में हमारे साधू गोरेन्फ्लो उर्फ़ पटना के दोन किहोते कहते हैं कि जब एमएसपी हटेगा तो उसकी जगह पर कॉरपोरेट उससे भी बड़ा ट्रिब्यूट वसूलेंगे। हमने इस परिशिष्ट के मूल लेख में इनकी इस अनर्गल बकवास का जवाब दिया है। 'यथार्थ' के 12वें अंक में आए लेख में मास्टरजी हमारी अवस्थिति को इजारेदार पूंजी का समर्थक बताने का बेईमानी भरा प्रयास करते हैं। वह हमें उद्धृत कर कहते हैं:

"पहली बात तो यह है कि इसमें कॉर्पोरेट द्वारा 'ट्रिब्यूट' को खत्म करने की बात दुहरायी गयी है। दूसरी बात, यह कहा गया है कि जब इजारेदार पूंजी यह 'ट्रिब्यूट' खत्म करेगी (वाह, कॉर्पोरेट पर क्या विश्वास है!) तो मज़दूर वर्ग को अपनी औसत मज़दूरी को **उसी स्तर पर कायम** रखने की लड़ाई लड़नी चाहिए ताकि इसका लाभ उसे मिल सके। अन्यथा, वह लिखते हैं, *इस ट्रिब्यूट के ख़त्म होने का पूरा लाभ केवल बड़े वित्तीय-औद्योगिक इजारेदार पूंजीपति वर्ग को ही मिलेगा।*

ऊपर से देखने से यह बिल्कुल सही प्रतीत होता है। लेकिन यह दलील वास्तव में कितनी बेतुकी और मज़दूर वर्ग विरोधी है, आइए इसे देखते हैं। इनके कथन के निहितार्थ निकालें तो ये पक्के तौर पर मानते हैं कि 1) मज़दूर वर्ग की आज की औसत मज़दूरी जीवनावश्यक भोजन सामग्रियों व अन्य जरूरतों की आज की औसत कीमत के अनुकूल है 2) इसलिए जब कॉर्पोरेट के द्वारा 'ट्रिब्यूट' यानी बेशी मुनाफा खत्म किया जाएगा तो जीवनावश्यक भोजन सामग्रियों की औसत कीमत घटेगी (इनके अनुसार अवश्य ही घटनी चाहिए, ये जरूर उनसे ब्रीफ लिए बैठे होंगे) और इसलिए औद्योगिक पूंजीपति वर्ग स्वाभाविक रूप से मज़दूरों को मिलने वाली औसत मज़दूरी को कम करने (मज़दूरों को जीवनावश्यक भोजन सामग्री की औसत कीमत में आयी गिरावट के अनुकूल बनाने के लिए, क्योंकि पूंजीवाद में समतुल्यों का विनिमय होता है) की कोशिश करेगा और इसलिए 3) अगर मज़दूर वर्ग को 'ट्रिब्यूट' से मिली मुक्ति का लाभ उठाना है, यानी समतुल्यों के विनिमय के अनुसार तय औसत मज़दूरी से ज्यादा मज़दूरी प्राप्त करनी है तो उसे औद्योगिक पूंजीपति वर्ग की इस कोशिश को नाकाम करना होगा 4) लेकिन अगर मज़दूर वर्ग ऐसा नहीं भी कर पाता है तब भी उसे कोई हानि नहीं होगी, यानी अगर एमएसपी खत्म करने के बाद **मज़दूर वर्ग की औसत मज़दूरी गिरायी भी जाती है तो कुछ भी गलत नहीं होगा,** क्योंकि ये साफ-साफ लिखते हैं कि *"इसका ख़त्म होना किसी भी रूप में मज़दूर वर्ग, ग़रीब व निम्न-मंझोले किसानों और शहरी निम्न मध्यम व मध्यम वर्ग को नुकसान नहीं पहुंचाने वाला है।" बस इतना होगा कि "इस ट्रिब्यूट के ख़त्म होने का पूरा लाभ केवल बड़े वित्तीय-औद्योगिक इजारेदार पूंजीपति वर्ग को ही मिलेगा।"* कॉर्पोरेट पर इनका भरोसा अद्वितीय है।"

...

एमएसपी के "खत्म होने के बाद भी मेहनतकश जनता को इसका लाभ तभी मिलेगा **जबतक** वह इजारेदार वित्तीय-औद्योगिक पूंजीपति वर्ग से संघर्ष कर अपनी औसत मज़दूरी को उसी स्तर पर कायम रखे"

(कॉर्पोरेट को लाल सलाम कहने की बेताबी में शोर मचाती 'महान मार्क्सवादी चिंतक' और 'पूंजी के अध्येता' की 'मार्क्सवादी मंडली' का घोर राजनैतिक पतन [2], यथार्थ)

इसमें मास्टरजी पहली चालबाजी **करते हुए बताते हैं कि मज़दूरों को औसत मज़दूरी मिल रही थी कहने से हमारा (आह्वान का) अर्थ है कि मज़दूरों को महंगाई के अनुसार औसत मज़दूरी मिल रही है!** जिसे अंकगणित की भी कठमुल्लावदी समझदारी हो वह भी मास्टरजी की इस धूर्तता को समझ लेगा। वैसे हम पहले ही बता चुके हैं कि मास्टरजी को बीजगणित का 'क ख ग' भी नहीं आता है और अंकगणित के भी महज कुछ समीकरणों को इन्होंने रटा मात्र है। जहां भी मास्टरजी को 'औसत' और 'आंकडें' शब्द सुनायी देते हैं उनके दिमाग के कबूतरखाने में घुसे खर्रों में कुलबुलाहट मचती है। औसत मज़दूरी का अर्थ समाज में एक वक्त में मज़दूरों को मिलने वाली मज़दूरी का

औसत है। इसका महंगाई के अनुसार औसत होने से कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा अर्थ का अनर्थ करने के लिए माटसाब जैसी "प्रतिभा" होना अनिवार्य था! इसे ***महंगाई की तुलना में औसत*** बताकर मास्टरजी यह साबित करना चाहते हैं कि हमारे अनुसार आज मज़दूरों को मिलने वाली मज़दूरी उनके जीवन के गुजारे लायक है और फिर नारेबाजी करते हुए बताते हैं कि आज मज़दूर असल में भुखमरी में जी रहा है! **यही है हमारे पटना के दोन किहोते का पवनचक्कियों से लड़ने का तरीका।**

वह आगे इस बात पर आनन्दित हो जाते हैं कि हमारे अनुसार : "जब कॉर्पोरेट के द्वारा 'ट्रिब्यूट' यानी बेशी मुनाफा खत्म किया जाएगा तो जीवनावश्यक भोजन सामग्रियों की औसत कीमत घटेगी"। **हमने इस परिशिष्ट के मूल लेख में यह दिखलाया था कि इन्हें यह समझ नहीं है कि इजारेदार वित्तीय-औद्योगिक पूंजीपति वर्ग का हित अनाज की कीमतों को भरसक कम रखने में है, दूसरे शब्दों में, इजारेदार पूंजीपति वर्ग सामान्य तौर पर कभी भी प्रमुख मज़दूरी उत्पाद (wage good) पर बेशी मुनाफा नहीं वसूलेगा क्योंकि यह अन्ततः मज़दूरी पर बढ़ने का दबाव पैदा करेगा और समूचे पूंजीपति वर्ग के लिए नुकसानदेह होगा।** आज इजारेदार पूंजीपति वर्ग एमएसपी को ठीक इसीलिए ख़त्म करना चाहता है कि एमएसपी से मिलने वाले इस बेशी मुनाफे को खत्म किया जाय जिससे कि उजरत कम की जा सके जिससे कि औसत मज़दूरी को *डिप्रेस* किया जा सके और अपने औसत मुनाफे की दर को बढ़ाया जा सके। यह मास्टरजी तब समझते जब इन्होंने कम से कम मार्क्स की पुस्तक 'उजरती श्रम और पूंजी' किसी जानकार से मदद लेकर पढ़ी होती, क्योंकि अकेले पढ़ने में तो वह ग़ज़ब मतलब निकालते हैं, यह अब सिद्ध हो चुका है। इतिहास की त्रासदी ही ऐसी है कि हमारे समाज में आज एक सदी पहले के रूस के नरोदवादियों की लाइन को नये रूप में ऐसे लोग पेश कर रहे हैं जो कि रूसी नरोदनिकों के समकक्ष भी बौने हैं। **साथ ही, यह *"हमारा विश्वास"* नहीं है कि कारपोरेट एमएसपी को ख़त्म करेंगे, बड़ी इजारेदार पूंजी मोदी सरकार के ज़रिये वास्तव में ऐसा ही तो कर रही है! किसान आन्दोलन इसी एमएसपी को बचाने के लिए तो हो रहा है! तो फिर इसमें हमारे विश्वास करने न करने या *माटसाब* के इस पर गुलाटियां मारने से कोई फर्क नहीं पड़ता है, क्योंकि सच ही यही है: तीनों खेती कानूनों में से पहले दो का मकसद एमएसपी खत्म करना ही है, कुलकों-धनी किसानों के वर्ग द्वारा वसूले जाने वाले इस ट्रिब्यूट को खत्म करना ही है, ताकि वे मज़दूरी पर गिरने का दबाव पैदा कर अपने मुनाफे की औसत दर को बढ़ा सकें।**

तीसरा करतब *माटसाब* यह दिखाते हैं कि हम मानते हैं कि मज़दूरों की उजरत घट जाना कोई बड़ी बात नहीं है। वह कहते हैं कि हमारे अनुसार एमएसपी खत्म होने पर मज़दूरों की उजरत घटने का भी हम स्वागत करते हैं! यह करतब वह दो मसलों को आपस में घालमेल कर सम्पन्न करते हैं। पहला मसला है एमएसपी के रूप में खेतिहर पूंजीपति वर्ग का इजारेदार लगान/बेशी मुनाफा ख़त्म होना और नतीजतन खाद्यान्न की कीमतों का घटना और *नॉमिनल* मज़दूरी के पुराने स्तर पर कायम रहने की सूरत में वास्तविक मज़दूरी बढ़ना। और दूसरा मसला है इजारेदार पूंजी द्वारा कुलक वर्ग के बेशी मुनाफे का खत्म कर खाद्यान्न की कीमतों को कम करने के फलस्वरूप मज़दूरी को घटाना ताकि वास्तविक मज़दूरी को बढ़ने से रोका जा सके और मुनाफे की दर को बढ़ाया जा सके। जहां तक इजारेदार पूंजीपति और खेतिहर पूंजीपति वर्ग के बीच के अन्तरविरोध का सवाल है तो मज़दूर वर्ग द्वारा इसमें कोई एक पक्ष लेने का प्रश्न ही नहीं उठता। **मज़दूर वर्ग द्वारा अपनी वास्तविक मज़दूरी को कम करने के इजारेदार पूंजी के प्रयासों के विरुद्ध लड़ाई एक अलग मसला है और कुलकों-धनी किसानों के बेशी मुनाफे को खत्म करने से बचाने की लड़ाई एक अलग मसला है। पहली लड़ाई मज़दूर वर्ग अवश्य लड़ेगा, लेकिन कुलकों-धनी किसानों के बेशी मुनाफे को बचाने की लड़ाई भला वह क्यों लड़ेगा?** उल्टे इजारेदार पूंजीपति वर्ग द्वारा वास्तविक मज़दूरी को कम करने के प्रयासों के विरुद्ध मज़दूर वर्ग संघर्ष ही तभी कर सकता है, जबकि कुलकों-धनी किसानों को मिलने वाला बेशी मुनाफा खत्म हो। दोनों लड़ाइयों को आपस में गड्ड-मड्ड कर *माटसाब* दिखला देते हैं कि उन्हें *नॉमिनल* मज़दूरी और *वास्तविक* मज़दूरी के बीच अन्तर नहीं पता है। *माटसाब* ने यहां भी अपना बौद्धिक कद दिखला दिया है। जैसा कि हम बार-बार दिखला चुके हैं, सीधी-सी बात समझने योग्य मानसिक क्षमता भी इस व्यक्ति में नहीं है।

साथ ही, *माटसाब* यह भी नहीं समझ पाए हैं कि क्यों कुलकों-धनी किसानों के बेशी मुनाफे के खत्म होने से अपने आप में मज़दूर वर्ग को कोई नुकसान नहीं होगा और किसी भी सूरत में मज़दूर वर्ग को पूंजीवादी भूस्वामियों, धनी किसानों व कुलकों के इस लगान/बेशी मुनाफे का विरोध क्यों करना चाहिए। उन्हें लगता है कि ऐसा कहना कारपोरेट पूंजी का समर्थन करना है। फिर से *माटसाब* स्पष्ट चिन्तन की अपनी अक्षमता को प्रदर्शित कर देते हैं। कुलकों-धनी किसानों के बेशी मुनाफे के खत्म होने के फलस्वरूप खाद्यान्नों की कीमतें गिरती हैं और इजारेदार पूंजीपति वर्ग उसी के अनुसार मज़दूरी कम करता है और मज़दूर वर्ग उसे ऐसा करने से संगठित प्रतिरोध की अनुपस्थिति में रोक नहीं पाता, तो भी उसकी वास्तविक मज़दूरी नहीं घट रही है, बल्कि वह अपनी वास्तविक मज़दूरी को बढ़ा नहीं पाएगा और कुलकों-धनी किसानों के बेशी मुनाफे के ख़त्म होने का पूरा लाभ इजारेदार पूंजीपति वर्ग को मिलेगा। अगर इजारेदार पूंजीपति वर्ग औसत मज़दूरी को उससे ज़्यादा गिराता है तो वह एक अलग मसला है, क्योंकि यह काम वह वैसे भी कर सकता है और जब भी सम्भव हो, करता भी है। लेकिन वह खेतिहर बुर्जुआजी के बेशी मुनाफे के ख़त्म होने या न होने से अलग प्रश्न है और इन दोनों का कोई कारणात्मक सम्बन्ध नहीं है। ऐसा प्रयास तो स्वयं कुलक व धनी फार्मर वर्ग भी करता है और अभी भी कर रहा है। यह समूचे पूंजीपति वर्ग से सर्वहारा वर्ग के संघर्ष का एक स्वतंत्र मुद्दा है और आम तौर पर हमेशा मौजूद ही रहता है। बहरहाल, बेशी मुनाफे/इजारेदार लगान के समाप्त होने पर इजारेदार पूंजीपति वर्ग उसी के अनुसार *नॉमिनल* मज़दूरी को कम करने का हर प्रयास करता है। यही वजह है कि यह एक कार्यभार बनता है कि सर्वहारा वर्ग को इजारेदार पूंजीपति वर्ग को ऐसा करने से रोकने के लिए गोलबन्द और संगठित किया जाय। लेकिन अगर वह ऐसा नहीं भी कर पाता तो *नॉमिनल* मज़दूरी के कम होने के बावजूद वास्तविक मज़दूरी ठीक इसी वजह से यानी कि बेशी मुनाफे के खत्म होने से, कम नहीं होगी, हालांकि पूंजीपति वर्ग का कोई भी हिस्सा ऐसा प्रयास स्वतंत्र तौर पर कर ही सकता है और करता ही रहता है। किसी भी सूरत में बेशी मुनाफे का मज़दूर

वर्ग व ग़रीब मेहनतकश किसानों पर नकारात्मक प्रभाव ही पड़ता है। जैसा कि आप देख सकते हैं कि *माटसाब* को वास्तविक मज़दूरी और *नॉमिनल* मज़दूरी के बीच का अन्तर भी नहीं पता है, जिसके कारण वे ऐसी बहकी-बहकी मूर्खतापूर्ण बातें कर रहे हैं।

उनके लेखन में ग़लतियों और लफ्फाजियों पर उंगली रखो तो वह पवनचक्की पर गत्ते की तलवार भांजने लगते हैं। इन्होंने पुन: इस तर्क को दोहराया है कि इजारेदार पूंजी ट्रिब्यूट खत्म नहीं करेगी बल्कि उसे बरकरार रखेगी और पहले से ज्यादा ट्रिब्यूट वसूल करेगी। हमने इस परिशिष्ट के मूल लेख में इसका विस्तार से जवाब दिया है और बताया है कि यह मूर्खतापूर्ण विश्लेषण है। असल में, यह विश्लेषण नहीं है बल्कि मास्टरजी ने पहले धनी किसान आंदोलन का समर्थन कर दिया, एमएसपी का समर्थन कर दिया, फिर वे फंस गये, और उसके बाद अपनी पूंछ को बचाने के लिए नये-नये तर्क गढ़ रहे हैं। हमारे मास्टरजी का यह तर्क पूर्णत: सिस्मोंदी द्वारा मक्का कानूनों के हटने का विरोध करने के ही समान है। सिस्मोंदी ने इंग्लैण्ड में धनी किसानों-भूस्वामियों को मक्का कानूनों की बदौलत मिलने वाले बेशी मुनाफे का समर्थन किया था जबकि उस समय औद्योगिक पूंजीपति वर्ग चाहता था कि मक्का कानूनों को खत्म किया जाए। लेनिन कहते हैं कि यह ऐतिहासिक तौर पर पूंजी की गति का नतीजा है और इतिहास की नैसर्गिक गति के नतीजों का विश्लेषण करना हमारा कार्यभार होना चाहिए न कि इस पर टेसू बहाना। सिस्मोंदी इसे कृषि की बर्बादी की ओर उठा कदम बताते हैं जबकि मार्क्स और लेनिन के अनुसार यह कृषि के पूंजीवादी विकास की तरफ़ कदम था, पूंजीवादी भूस्वामी व फार्मरों के वर्ग के बेशी मुनाफे के खात्मे का कदम था और सर्वहारा वर्ग व ग़रीब मेहनतकश आबादी के पक्ष में जाने वाला कदम था, बशर्ते कि वे संगठित होकर अपने वर्ग हितों की बड़े पूंजीपतियों से रक्षा करें। हमारे पटना के दोन किहोते आज बड़ी इजारेदार पूंजी के खेती में प्रवेश पर सिस्मोंदी के समान ही रुदाली बन गये हैं और छाती पीट रहे हैं। वह कहते हैं कि इजारेदार पूंजी के कृषि के प्रवेश पर गांव के गांव बर्बाद हो जाएंगे! क्या यह नरोदवाद नहीं है? सिस्मोंदी भी मक्का कानून हटने के प्रभाव को भयानक बताते हैं कि खेत में काम करने वाले 5,40,000 परिवार बर्बाद हो जाएंगे, ठीक उसी प्रकार जैसे लाभकारी मूल्य के समाप्त होने के प्रभाव को हमारे पटना के दोन किहोते भयानक बताते हुए कहते हैं कि "गांव के गांव उजड़ जाएंगे"। सिस्मोंदी को उद्धृत करते हुए लेनिन लिखते हैं:

"What will the day labourer do? ... Work will stop, the fields will be converted into pastures...What will become of the 540,000 families who will be denied work? Even assuming that they will be fit for any kind of industrial work, is there, at the present time, an industry capable of absorbing them?. . ." (Lenin, **A Characterisation of Economic Romanticism**)

लेनिन बताते हैं कि सिस्मोंदी किस तरह कृषि में पूंजीवादी विकास को इतिहास की नैसर्गिक गति में समझने की जगह उस पर अपनी नादान इच्छाओं को थोपना चाहते हैं। परन्तु हम पाते हैं कि पटना के दोन किहोते की इच्छाएं 'नादान' नहीं हैं। वह तो धनी किसानों की पूंछ पकड़ चुके हैं और अब इस पाप की शुद्धि हेतु ही नरोदवाद के नाले में कूद पड़े हैं। वह कुलकों और धनी किसानों को पूंजीपति वर्ग का हिस्सा नहीं मानते हैं! उनके अनुसार सर्वहारा क्रान्ति मौजूदा धनी किसान-कुलक आंदोलन की लहर पर सवारी कर आएगी! वह और इनके सांचो पांजा किसान आंदोलन की लहर पर सवारी करने के लिए सर्फिंग बोर्ड लेकर टीकरी व सिंघू बॉर्डर पहुंच भी चुके हैं! कृषि में बड़ी इजारेदार पूंजी की दखल होने पर पटना के दोन किहोते को लगता है कि खेतिहर बुर्जुआजी द्वारा वसूला जा रहा ट्रिब्यूट खत्म नहीं होगा बल्कि इसकी जगह इजारेदार पूंजी द्वारा वसूला जाने वाला बड़ा ट्रिब्यूट आने वाला है। हम इस मूर्खतापूर्ण तर्क का मूल लेख में खण्डन कर चुके हैं। मार्क्स बताते हैं कि औद्योगिक पूंजीपति वर्ग किस तरह से मक्का कानूनों को हटाने का प्रचार कर रहे थे और इस मीटिंग में एक मज़दूर ने चीखकर कहा था कि:

" 'If the landlords were to sell our bones, you manufacturers would be the first to buy them in order to put them through a steam-mill and make flour of them.' The English workers have very well understood the significance of the struggle between the landlords and the industrial capitalists. **They know very well that the price of bread was to be reduced in order to reduce wages, and that industrial profit would rise by as much as rent fell."** (Marx, **On the Question of Free Trade**)

यानी ज़मींदार के लगान को कम करके ही औद्योगिक मुनाफ़ा बढ़ सकता था। मार्क्स के अनुसार भी औद्योगिक मुनाफा बढ़ाने के लिए मज़दूरी को घटाना अनिवार्य था, और उसके लिए रोटी की कीमत घटाना अनिवार्य था। मार्क्स के अनुसार ज़मींदार और औद्योगिक पूंजीपति, दोनों ही पक्ष मज़दूरों के शोषक हैं। इसमें किसी भी एक लुटेरे का समर्थन करना सर्वहारा कार्यदिशा नहीं होती। लेकिन इसके बाद भी मार्क्स यह स्पष्ट करते हैं कि मज़दूर वर्ग के नज़रिये से बड़ी पूंजी ऐतिहासिक तौर पर प्रगतिशील है। लेकिन आर्थिक रूमानीवादी सिस्मोंदी कृषि क्षेत्र के छोटे उत्पादकों के बर्बाद होने पर बिलकुल वैसे ही छाती पीटते हैं जैसे कि पीआरसी के बौद्धिक बौने पीट रहे हैं। लेनिन मार्क्स के द्वारा पूंजीवादी भूस्वामियों व धनी किसानों के बरक्स बड़ी पूंजी की ऐतिहासिक प्रगतिशीलता के तर्क के आधार को स्पष्ट करते हैं:

"Thus, the speaker was able to find a criterion for the solution of the problem which at first sight seemed to lead to the hopeless dilemma that brought Sismondi to a halt: both Free Trade and its restraint equally lead to the ruin of the workers. *The criterion is the development of the productive forces*. It was immediately evident that the problem was treated from the historical angle: instead of comparing capitalism with some abstract society as it should be (i.e., fundamentally with a utopia), the author compared it with the *preceding stages* of social economy, compared the different stages of capitalism as they successively replaced one another, *and established the fact that the productive forces of society develop thanks to the development of capitalism*. By applying scientific criticism to the arguments of the Free Traders he was able to avoid the mistake usually made by the romanticists who, denying that the arguments have any importance, "throw out the baby with the bath water"; he was able to pick out their sound kernel, i.e., the undoubted fact of enormous technical progress. **Our Narodniks, with their characteristic wit, would, of course, have concluded that this author, who had so openly taken *the side of big capital against the small producer*, was an "apologist of money power," the more so that he was addressing continental Europe and applying the conclusions he drew from English life to his own country, where at that time large scale machine industry was only taking its first timid steps. And yet, precisely this example (like a host of similar examples from West-European history) could help them study the thing they are not at all able to understand (perhaps they do not wish to do so?), namely, that to admit that big capital is progressive as compared with small production, is very, very far from being "apologetics.""** (Lenin, **A Characterisation of Economic Romanticism**, *emphasis ours*)

आप समझ सकते हैं कि रूस में नरोदनिक भी बिलकुल हमारे बौद्धिक बौनों की तरह मार्क्स को भी बड़ी पूंजी का, पैसे की ताकत का *अपॉलजिस्ट* बताते हैं। नरोदनिक की तरह ही बौद्धिक बौने, आधुनिक नरोदनिक उर्फ पटना के दोन किहोते, भी हम पर बड़ी पूंजी के समर्थक होने का आरोप लगाते हैं। लेनिन साफ करते हैं कि यह स्वीकार करना कि टुटपुंजिया उत्पादन व छोटी पूंजी के मुकाबले बड़ी पूंजी प्रगतिशील है, बड़ी पूंजी के समर्थक या *अपॉलजिस्ट* होने से कोसों दूर है। लेनिन बताते हैं कि कृषि में बड़ी पूंजी के प्रवेश पर एंगेल्स अपनी जानी-पहचानी हर्षमिश्रित विडम्बना व्यक्त करते हैं परन्तु इससे वह बड़ी पूंजी के समर्थक नहीं हो जाते:

"In Engels's opinion the present agricultural crisis is reducing rent and is even tending to abolish it altogether; in other words, agricultural capitalism is pursuing its natural tendency to abolish the monopoly of landed property. No, Mr. N.–on is positively out of luck with his "quotations." Agricultural capitalism is taking another, enormous step forward; it is boundlessly expanding the commercial production of agricultural produce and drawing a number of new countries into the world arena; it is driving patriarchal agriculture out of its last refuges, such as India or Russia; it is creating something hitherto unknown to agriculture, namely, the purely industrial production of grain, based on the co-operation of masses of workers equipped with the most up-to-date machinery; it is tremendously aggravating the position of the old European countries, reducing rents, thus undermining what seemed to be the most firmly established monopolies and reducing landed property "to absurdity" not only in theory, but also in practice; it is raising so vividly the need to socialise agricultural production that this need is beginning to be realised in the West even by representatives of the propertied classes. And Engels, with his characteristic cheerful irony, *welcomes* the latest steps of world capitalism: fortunately, he says, there is still enough uncultivated prairie land left to enable things to continue as they have been doing. But our good Mr. N.–on, *à propos des bottes*, sighs for the "muzhik cultivator" of yore, for the "time-hallowed" . . . stagnation of our agriculture and of all the various forms of agricultural bondage which

“neither the strife among the appanage princes nor the Tartar invasion” could shake, and which now—oh, horror!—are beginning to be most thoroughly shaken by this monstrous capitalism! *O*, *sancta simplicitas*!" (Lenin, **The DEVELOPMENT of CAPITALISM in RUSSIA**)

क्या यह साफ़ नहीं कि पूंजीवादी किसानों की इजारेदार पूंजी के प्रवेश पर निकली 'आह' को सैद्धांतिक बकवास में तब्दील करने वाले मास्टरजी भी नरोदनिकों की तरह मज़दूर वर्ग से गद्दारी कर रहे हैं? फिर से दुहराने की आवश्यकता नहीं है कि मार्क्स, एंगेल्स से लेकर लेनिन तक यहां पिछली उत्पादन व्यवस्थाओं और पूंजीवाद के पिछले चरणों की तुलना में अपेक्षाकृत बड़ी पूंजी के प्रवेश को प्रगतिशील बता रहे हैं। यह दुहराना इसलिए आवश्यक है कि इस पूरी अवधारणा को *दोन किहोते दि ला पटना* और उनके गुरू जी यानी मूर्खेश असीम समझ नहीं पाते हैं और त्यौरियां चढ़ाकर पूछने लगते हैं "तो आप पूंजीवाद को प्रगतिशील मानते हैं? उसे जनता का भला करने वाला मानते हैं? आप अलाना, फलाना, ढिमकाना, और चिलाना हैं!" ऐसे बौद्धिक बौनों को कुछ भी समझा पाना मुश्किल है।

3. बेशी मुनाफा की अवधारणा के बारे में *माटसाब* की अनर्गल बकवास

माटसाब इस लेख में अतिरिक्त मुनाफे के मांग और आपूर्ति द्वारा तय होने की जो अवधारणा पेश करते हैं उसमें सोशल मीडिया के "वामपन्थी" पत्रकार की लार की बू आती है। मूर्खेश असीम द्वारा 'द टूथ' के 12वें अंक में आए लेख में भी इस विश्लेषण की छाया मौजूद थी। हमारे दोन किहोते ने इसके आधार पर अपनी मूर्खताओं के अलग-अलग चीथड़ों को पिरोने की कोशिश की है। वह कहते हैं कि:

"पहला, बड़ी इजारेदार पूंजी इस ‘ट्रिब्यूट’ को खत्म नहीं, बल्कि उस पर अपना आधिपत्य कायम करेगी। **दूसरे,** वह यहीं नहीं रुकेगी, अपितु बेशी मुनाफे से भी आगे अधिकतम मुनाफा हासिल करेगी, जो ‘मांग और पूर्ति’ के बीच संतुलन को बनाये रखते हुए कुछ भी हो सकता है।" (कॉर्पोरेट को लाल सलाम कहने की बेताबी में शोर मचाती ‘महान मार्क्सवादी चिंतक’ और ‘पूंजी के अध्येता’ की ‘मार्क्सवादी मंडली’ का घोर राजनैतिक पतन [2], यथार्थ अंक 12)

अधिकतम मुनाफा इनके अनुसार मांग और आपूर्ति के बीच संतुलन बनाकर तय होगा! इस वाक्य का अर्थ क्या है? पहली बात हमने इस परिशिष्ट के मूल लेख में यह दिखाया है कि कृषि उत्पाद में बड़ी इजारेदार पूंजी कीमतें कम रखने का प्रयास करती है क्योंकि इसके जरिये यह *वेज गुड्स* की कीमतों को कमकर उजरत घटाने का प्रयास करती है। यह पूरे पूंजीपति वर्ग की ही आम ज़रूरत होती है, सिवाय पूंजीवादी भूस्वामियों, धनी किसानों और कुलकों के। हम जानते हैं कि श्रम द्वारा सृजित नये मूल्य के दो हिस्से होते हैं: मज़दूरी और मुनाफ़ा। अन्य स्थितियों के समान रहने पर मज़दूरी के घटने का अर्थ है, मुनाफे का बढ़ना। मज़दूरी के घटने का अनिवार्य परिणाम वास्तविक मज़दूरी का घटना नहीं होता है क्योंकि वास्तविक मज़दूरी का अर्थ होता है *नॉमिनल* मज़दूरी के ज़रिये प्राप्त की जाने वाली उपभोक्ता वस्तुओं का समुच्चय (basket of consumer goods)। यदि वास्तविक मज़दूरी न घटे तो भी मज़दूरी के कुल नये मूल्य में घटने के साथ शोषण की दर बढ़ती है। मज़दूर वर्ग द्वारा संगठित होकर जिस प्रमुख आर्थिक मांग पर पूंजीपति वर्ग से संघर्ष करना होता है, वह यही मांग है कि कुल नये मूल्य में मज़दूरी का हिस्सा बढ़ाया जाय। बहरहाल, इजारेदार पूंजीपति वर्ग मज़दूरी वस्तुओं (wage goods) की कीमतों में बेशी मुनाफ़ा ठीक इसीलिए नहीं चाहता है क्योंकि इसके कारण खाद्यान्न की कीमतों को भरसक कम रखना सम्भव नहीं रह जाता है। इस बात को समझने में *माटसाब* और *माटसाब* के *माटसाब* के पसीने छूट जा रहे हैं, लेकिन फिर भी उनकी मोटी बुद्धि में यह बात घुस नहीं रही है। इसे सुधी पाठक इस परिशिष्ट के मूल लेख में देख सकते हैं किस प्रकार ये दोनों मूर्ख अपनी जहालत की कव्वाली ताली मार-मारकर गाए जा रहे हैं। देखें मार्क्स किस प्रकार समझाते हैं कि मज़दूरी वस्तुओं के सेक्टरों में इजारेदार कीमतों द्वारा बेशी मुनाफा पूंजीवाद और समूचे पूंजीपति वर्ग के हितों विपरीत जाता है और क्यों पूंजीपति वर्ग इन सेक्टरों में बेशी मुनाफा नहीं वसूल सकता:

"The **monopoly price** of certain commodities would merely transfer a portion of the profit of the other commodity producers to the commodities having the **monopoly price**. A local disturbance in the distribution of the surplus-value among the various spheres of production would indirectly take place, but it would leave the limit of this surplus-value itself unaltered. **Should the commodity having the monopoly price enter into the necessary consumption of the labourer, it would increase the wage and thereby reduce the surplus-value, assuming the labourer receives the value of his labour power as before. It could depress wages below the value of labour-power, but only to the extent that the former exceed the limit of their physical minimum."** (Marx, **Capital**, Volume 3)

जैसा कि आप उपरोक्त उद्धरण से समझ सकते हैं, इजारेदार कीमतों के ज़रिये इजारेदार कम्पनियां या पूंजीपति मज़दूरी वस्तुओं की कीमतों में औसत मुनाफे की दर के ऊपर बढ़ोत्तरी नहीं करेंगे, क्योंकि यह मज़दूरी को बढ़ाएगा। अन्य सेक्टरों में इजारेदार कीमतें किस प्रकार निर्धारित होती हैं, यह भी *माटसाब* नहीं समझते हैं, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

दूसरी बात, "बेशी मुनाफा के ऊपर अधिकतम मुनाफा" जैसे वाक्यांश इस्तेमाल करके *माटसाब* ने फिर से दिखला दिया कि उन्हें बेशी मुनाफे का अर्थ नहीं पता है। पहली बात तो मज़दूरी वस्तुओं में इजारेदार पूंजीपति वर्ग समेत समूचा पूंजीपति वर्ग किसी प्रकार का बेशी मुनाफा नहीं चाहता है। लेकिन अन्य उत्पादों में इजारेदार कीमत निर्धारण के ज़रिये इजारेदार कम्पनियां जो "अधिकतम मुनाफा" कमाती हैं, वह बेशी मुनाफा ही है, जो कि इजारेदार लगान (monopoly rent) के रूप में उन्हें प्राप्त होता है। "बेशी मुनाफे के ऊपर बेशी या अधिकतम मुनाफा" जैसी कोई चीज़ नहीं होती है, जैसा कि *माटसाब* को लगता है।

तीसरी बात, इजारेदार लगान या मज़दूरी वस्तुओं को छोड़कर अन्य सेक्टरों में इजारेदार कम्पनियों को मिलने वाले अधिकतम मुनाफे का मांग और आपूर्ति के सन्तुलन से कोई रिश्ता नहीं होता है। इजारेदार लगान या इजारेदार कम्पनियों को मिलने वाले बेशी मुनाफे की अवधारणा ही यही होती है कि वह कीमतों का निर्धारण बेशी मुनाफे को सुनिश्चित करने वाले स्तर पर ठीक इसलिए कर सकती है कि उसका कोई प्रतिस्पर्द्धी नहीं है और वह उपभोक्ताओं के एक बेहद उच्च हिस्से के बीच अपने माल का विपणन कर पर्याप्त मुनाफ़ा कमा सकती है। यहां कुछ बुनियादी बातें हैं जो *माटसाब* के भेजे में नहीं घुसी हैं: **इजारेदार कीमतों के निर्धारण पर आपूर्ति और मांग अपने आप में कोई असर नहीं डालती हैं; जो दो कारक इजारेदार कीमतों के निर्धारण को तय करते हैं, वे हैं कुल उत्पादित मूल्य, क्योंकि इजारेदार कीमतों के ज़रिये केवल अन्य सेक्टरों से मूल्य इजारेदार पूंजी को स्थानान्तरित होता है, लेकिन मूल्य उतना ही स्थानान्तरित हो सकता है, जितना उत्पादित हुआ हो; यानी, इजारेदार कीमतों के निर्धारण पर एक सीमा इससे तय होती है। दूसरी सीमा इजारेदार पूंजी द्वारा पैदा किये जा रहे मालों को ख़रीदने की उपभोक्ता वर्ग की क्रय-शक्ति से निर्धारित होती है; इजारेदार पूंजी कीमतों का इस हद तक भी निर्धारण नहीं कर सकती कि उपभोक्ताओं का वर्ग इजारेदार कीमतों पर उतना माल भी न ख़रीद सके कि इजारेदार पूंजी को कुछ बेशी मुनाफ़ा प्राप्त हो, क्योंकि इजारेदार कीमत निर्धारण का मूल लक्ष्य ही बेशी मुनाफे की प्राप्ति होता है।** यह स्वीज़ी और बरान जैसे कीन्सीय-मार्क्सवादियों व विनिमय सम्बन्धों पर अधिक बल देने वाले अध्येताओं की समझदारी थी कि इजारेदार कीमतों के निर्धारण के आम नियम नहीं हो सकते, सिवाय मुनाफे को अधिकतम बनाने की हवस के। यही समझदारी (हालांकि बेहद भ्रमित और दरिद्र रूप में) हमारे पटना के दोन किहोते की है। ऊपर 'पूंजी' के खण्ड 3 से दिये गये उद्धरण को निम्न उद्धरण के साथ पढ़ें तो आप इजारेदार कीमत निर्धारण के विषय में मार्क्स की अवस्थिति को समझ सकते हैं:

"When we refer to a monopoly price, we mean in general a price determined only by the purchasers' eagerness to buy and ability to pay, independent of the price determined by the general price of production, as well as by the value of the products. A vineyard producing wine of very extraordinary quality which can be produced only in relatively small quantities yields a monopoly price. The wine-grower would realise a considerable surplusprofit from this monopoly price, whose excess over the value of the product would be wholly determined by the *means* and fondness of the discriminating wine-drinker." (Marx, **Capital**, Volume 3)

जैसा कि पाठक देख सकते हैं, *माटसाब* ने अपने राजनीतिक अपढ़पन और बौद्धिक बौनेपन का एक बार फिर से परिचय दिया है। दरअसल, *माटसाब* बेशी मुनाफा, इजारेदार लगान, इजारेदार कीमत आदि को समझ ही नहीं पाए हैं और इधर-उधर अन्धेरे में तीर चला रहे हैं और तुक्के मार रहे हैं।

अभी-अभी *माटसाब* द्वारा लिखित उनके लेख का तीसरा हिस्सा हमारे हाथ लगा है। उसमें उन्होंने बेहद विस्तार से स्पष्ट कर दिया है कि उन्हें बेशी मुनाफा, इजारेदार कीमत, इजारेदार लगान, निरपेक्ष भूलगान आदि की अवधारणाएं ही समझ में नहीं आई हैं और उस पर उन्होंने काफ़ी रायता फैलाया है। साथ ही, *माटसाब* अपने तीसरे लेख में बुर्जुआ वर्ग की सम्पत्ति के भूमि में सुदृढ़ीकरण (territoiralization of bourgeoisie) को निरपेक्ष लगान के समाप्ति का कारण समझ लिया है! भारत के छोटे मालिक किसानों की संख्या ज्यादा होने को भी निरपेक्ष लगान की अनुपस्थिति का कारण समझ लिया है! इसके आधार पर इन जनाब को लगता है कि भारत में कोई लगानजीवी पूंजीवादी भूस्वामी वर्ग है ही नहीं! इस प्रकार की दर्जनों मूर्खताएं और मार्क्स की 'पूंजी' के खण्ड-3 से बिना उद्धरणों का अर्थ समझे अप्रासंगिक उद्धरणबाज़ी का *माटसाब* ने ढेर लगाने का प्रयास किया है। दरअसल, *माटसाब* अपनी बच्चा पार्टी को दिखलाना चाह रहे थे कि उन्हें भी पता है कि भूमि लगान, बेशी मुनाफ़ा, इजारेदार कीमत, इजारेदार लगान क्या होता है! लेकिन इस चक्कर में वह एकदम उल्टा काम कर गए हैं! मूर्ख तो आखिर मूर्ख ही ठहरा, अपनी मूर्खता दिखाता ही! नतीजतन, इन्होंने पहले से भी ज़्यादा हास्यास्पद ग़लतियां की हैं। उनकी इन नयी मूर्खताओं को हम अपनी आलोचना की अगली किश्त में बेनक़ाब करेंगे। अब ज़रा कल्पना करिये: यह व्यक्ति एक अखिल भारतीय पार्टी का महासचिव कहलाना पसन्द करता

है, हालांकि न तो इस पार्टी में कुछ पार्टी जैसा है और न ही इस महासचिव में कुछ महा या सचिव जैसा है, सिवाय एक चीज़ के: कि यह महामूर्ख है।

दरअसल रट्टू मास्टरजी ने स्तालिन के एक उद्धरण, जिसमें उन्होंने उपनिवेशों में इजारेदार पूंजी द्वारा अधिकतम मुनाफा कमाए जाने की चर्चा की है, की तुलना इजारेदार पूंजी द्वारा वसूले जाने वाले बेशी मुनाफे से कर दी है! **यह भी दिखलाता है कि *माटसाब* को उपनिवेशों में साम्राज्यवाद द्वारा लूट और इजारेदार पूंजी द्वारा इजारेदार कीमत के ज़रिये प्राप्त किये जाने वाले बेशी मुनाफे के बीच अन्तर नहीं पता है। साम्राज्यवाद उपनिवेशों में जो लूट करता है, वह आदिम संचय का एक रूप है, जबकि इजारेदार पूंजी द्वारा इजारेदार कीमतों के ज़रिये हासिल किया जाने वाला बेशी मुनाफा उन्नत पूंजीवादी संचय का एक रूप है।** हम मूल लेख में इस फर्क को विस्तार से स्पष्ट कर चुके हैं। एक बार फिर से याद दिला दें, कि मज़दूरी-वस्तुओं के उत्पादन के क्षेत्र में इजारेदार पूंजी भी बेशी मुनाफा नहीं कमा सकती क्योंकि यह समूचे पूंजीपति वर्ग के सामूहिक वर्ग हितों के विरुद्ध जाता है। लेकिन *माटसाब* इस बात को समझ पाएं, इसकी उम्मीद कम ही है। उनके बौद्धिक बौनेपन का अब तक का रिकॉर्ड बताता है कि जटिल अवधारणाओं को समझना तो दूर, वे मार्क्सवाद-लेनिनवाद के बुनियादी सिद्धान्तों को भी नहीं समझ पाते हैं।

दूसरी बात यह है कि आम तौर पर भी मांग और आपूर्ति कोई स्वतंत्र चर राशियां नहीं हैं, बल्कि स्वयं मुनाफे की औसत दर की गति, पूंजी संचय की गति पर निर्भर करती हैं। बेशी मुनाफे के बंटवारे में भी इनकी कोई विशेष भूमिका नहीं होती। मांग और आपूर्ति तो स्वयं उत्पादन के अलग-अलग क्षेत्रों में पूंजी के प्रवाह से तय होते हैं और पूंजी का यह प्रवाह स्वयं मुनाफे की दरों के अन्तर से और इस प्रकार मुनाफे के औसतीकरण की प्रक्रिया से निर्धारित होते हैं। मार्क्स बताते हैं:

"It should be here noted in passing that the "social demand," i.e., the factor which regulates the principle of demand, is essentially subject to the mutual relationship of the different classes and their respective economic position, notably therefore to, firstly, the ratio of total surplus-value to wages, and, secondly, to the relation of the various parts into which surplus-value is split up (profit, interest, ground-rent, taxes, etc.). And this thus again shows how absolutely nothing can be explained by the relation of supply to demand before ascertaining the basis on which this relation rests." (Marx, **Capital,** Volume 3)

मांग और आपूर्ति का आधार खुद मूल्य के नियम द्वारा ही निर्धारित होता है। मार्क्स 'पूंजी' खण्ड-3 में समझाते हैं कि मांग और आपूर्ति कोई स्वतंत्र कारक नहीं हैं, बल्कि वे स्वयं मालों के सामाजिक मूल्य या बाज़ार मूल्य (social value) से निर्धारित होते हैं और उसके बाद ही बाज़ार कीमतों (market prices) को निर्धारित कर सकते हैं:

"Should the mass of products exceed this demand, the commodities would have to be sold below their market-value; and conversely, above their market-value if the mass of products were not large enough to meet the demand, or, what amounts to the same, if the pressure of competition among sellers were not strong enough to bring this mass of products to market. Should the market-value change, this would also entail a change in the conditions on which the total mass of commodities could be sold. Should the market-value fall, this would entail a rise in the average social demand (this always taken to mean the effective demand), which could, within certain limits, absorb larger masses of commodities. Should the market-value rise, this would entail a drop in the social demand, and a smaller mass of commodities would be absorbed. Hence, if supply and demand regulate the market-price, or rather the deviations of the market-price from the market-value, then, in turn, the market-value regulates the ratio of supply to demand, or the centre round which fluctuations of supply and demand cause market-prices to oscillate." (Marx, **Capital, Volume 3)**

'पूंजी' के खण्ड-3 से मांग और आपूर्ति के मूल्य के नियम द्वारा निर्धारित होने पर मार्क्स के कई उद्धरण पेश किये जा सकते हैं, लेकिन उनकी यहां आवश्यकता नहीं है।

हमने अपने दूसरे जवाब में बताया था कि तमाम पूंजीपतियों के बीच मुनाफ़े के औसतीकरण की प्रक्रिया जारी रहती है। इजारेदारी के कारण औसतीकरण में बाधा पैदा होती है क्योंकि एक क्षेत्र में पूंजी का प्रवाह बाधित हो जाता है। इजारेदार कीमतों के निर्धारण को समझने के लिए पाठक हमारे पिछले लेख को देख सकते हैं, जिसमें हमने बताया है कि इजारेदार कीमतों के ज़रिये बेशी मुनाफा कई प्रकार की इजारेदारियों से पैदा हो सकता है: मसलन, भूमि का इजारेदार मालिकाना जो कि निरपेक्ष लगान को जन्म देता है; आर्थिक इजारेदारियों द्वारा इजारेदार कीमतों का निर्धारण; और राज्य द्वारा कीमत निर्धारण पर इजारेदारी द्वारा इजारेदार कीमतों का निर्धारण। लाभकारी मूल्य, जैसा कि हमने पहले भी बताया है, मूलत: राज्य द्वारा इजारेदार कीमत निर्धारण से पैदा होने वाला बेशी मुनाफा है। लेकिन यहां यह साफ़ है कि मास्टरजी को इजारेदार कीमतों के बनने की

प्रक्रिया के बारे में जानकारी नहीं है और वह तुक्का मारते हुए आपूर्ति और मांग के कारक को इसके निर्धारण की प्रक्रिया में घुसा रहे हैं, जबकि मांग और आपूर्ति अपने आप में कुछ निर्धारित नहीं करते, बल्कि मुनाफे की दर की गतियों से निर्धारित होते हैं। **अब जबकि *माटसाब* अपने इस अज्ञान पर पकड़ा गए हैं, तो 'दि ट्रूथ' के वर्ष-2, अंक-1 में उन्होंने यह जताने की कोशिश की है कि उन्हें निरपेक्ष भूमि लगान, इजारेदार लगान, इजारेदार कीमत आदि की अवधारणाओं के बारे में पता है, लेकिन इस प्रक्रिया में वह नयी-नयी प्रचण्ड मूर्खताएं कर गए हैं, जिस पर हम अपनी आलोचना की अगली किश्त में विस्तार से लिखेंगे।** बहरहाल, अपने पुराने लेख में तो *माटसाब* मार्क्स-पूर्व भोण्डे बुर्जुआ अर्थशास्त्र का और भी भोण्डा संस्करण पेश करते हुए मांग और आपूर्ति के बीच झूल गए हैं।

4. *माटसाब* का संकट का सिद्धान्त: बुनियादी मार्क्सवाद न समझने की एक और मिसाल

मांग और आपूर्ति के संतुलन के इस मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त-प्रतिपादन के बाद वह आर्थिक संकट के मूल में 'अतिउत्पादन' का संकट खोज निकालते हैं। वह कहते हैं कि

"जहां तक आर्थिक संकट की बात है, तो अब से पहले हम यही जानते थे कि ये पूंजीवादी अर्थव्यवस्था को संरचनात्मक और स्थाई रूप से संकटग्रस्त मानते हैं। बात वही है, वास्तविक आंदोलन की एक ही चोट ने इनके ऊपर के बनावटी रंगों की परत झाड़ कर रख दी है। यह सच्चाई है कि भारत के कृषि संकट के मूल में 'अतिउत्पादन' का संकट ही व्याप्त है जिसके कारण कृषि मालों व उपज की ब्रिकी की भयानक और लगभग स्थाई समस्या पिछले कई दशकों से संघनित रूप से उठ खड़ी हुई है और साथ ही दामों के लगातार गिरने की प्रवृत्ति जारी है"(वही)

पहली बात तो यह है कि हम मौजूदा संकट को दीर्घकालिक संकट (Long Depression) मानते हैं, जैसा कि सभी संजीदा मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्री आज मानते हैं, और इस अर्थ में ही हम उसे "स्थाई संकट" मानते हैं कि अगला वास्तविक तेज़ी का दौर आने से पहले ही दुनिया में क्रान्तियों का सिलसिला शुरू होने की गुंजाइश ज़्यादा है। निरपेक्ष रूप में "स्थाई संकट" जैसी कोई चीज़ नहीं होती है। मार्क्स इस अवधारणा के ही खिलाफ़ थे। मौजूदा संकट दीर्घकालिक संकट इसलिए है क्योंकि 1970 के बाद से पूंजी के अवमूल्यन (devalorization of capital) की कोई व्यवस्थित प्रक्रिया घटित नहीं हो पा रही है, जिसके राजनीतिक कारण हैं। इस विषय में दिलचस्पी रखने वाले पाठक अनवर शेख़, एंड्रयू क्लाइमन, माइकेल रॉबर्ट्स, गुगलियेल्मो कारचेदी, फ्रेड मोज़ली, इत्यादि को पढ़ सकते हैं। संकट से निजात के लिए वह तकलीफ़देह शुद्धि की प्रक्रिया अनिवार्य होती है जिसमें उत्पादक शक्तियों का विचारणीय पैमाने पर विनाश हो और पूंजी का अवमूल्यन हो । यदि संकट गहरा है और एक महामन्दी का स्वरूप ले चुका है तो यह प्रक्रिया आम तौर पर वैश्विक पैमाने पर होने वाले बड़े युद्धों के ज़रिये सम्पन्न होती है। लेकिन वैश्विक पूंजीवादी राजनीति के आन्तरिक अन्तरविरोधों के कारण ऐसी कोई प्रक्रिया घटित नहीं हो पा रही है जिसके कारण उत्पादक शक्तियों का विनाश और पूंजी का अवमूल्यन उस स्तर पर नहीं हो सका है, कि वह किसी वास्तविक तेज़ी को जन्म दे (वास्तविक तेज़ी से अर्थ है वास्तविक उत्पादक अर्थव्यवस्था में तेज़ी और निवेश की दर का बढ़ना, न कि वित्तीय बुलबुले के ज़रिये एक नकली तेज़ी पैदा होना, जिसके फूटने पर संकट पहले से भी ज़्यादा गहरे रूप में प्रकट होता है)। इसकी सम्भावना भी आज की दुनिया में कम है, हालांकि यह असम्भव नहीं है और अन्तरविरोधों के और ज़्यादा गहराने के साथ यह हो भी सकता है। नतीजतन, हम अपने लेखन में पहले यह लिखते रहे हैं कि यह 'स्थाई मन्दी' है, लेकिन केवल सापेक्ष अर्थों में, हालांकि हमने अपने पहले के लेखन में इस बात को विस्तार से स्पष्ट नहीं किया है; दूसरे शब्दों में, किसी वास्तविक तेज़ी के दौर के आने से पहले विश्व में क्रान्तियों के सिलसिले के शुरू होने की उम्मीद ज़्यादा है और केवल इस अर्थ में ही हम मौजूदा मन्दी को 'आखिरी मन्दी' कह सकते हैं। निश्चित तौर पर, मन्दी से बाहर निकलने की सम्भावना इस तथ्य के कारण और क्षीण होती है कि आज वैश्विक पूंजी पूरे विश्व में व्याप्त हो चुकी है; लेकिन उसका पूरे विश्व में फैलना संकट का कारण नहीं है, बल्कि परिणाम है। यह मुनाफे की औसत दर के गिरने का संकट है, जिसके कारण पूंजी का निर्यात होता है और पूंजी महज़ बाज़ार की खोज में बाहर नहीं जाती, जैसा कि रोज़ा लक्जेमबर्ग को लगता था, बल्कि निवेश के नये अवसरों, कच्चे माल व सस्ते श्रम के स्रोतों, और बाज़ारों तीनों की ही खोज में बाहर जाती है। बाह्य निवेश के अवसर समाप्त हो गये हों, ऐसा भी नहीं है क्योंकि पहले से निवेश के कुछ नियत अवसर नहीं होते हैं बल्कि पूंजी नयी आवश्यकताओं को पैदा करती है और इस प्रकार निवेश के नये अवसरों को भी पैदा करती है और वह भी पुराने बाज़ारों के भीतर। यह एक *ऑर्गेनिक* विस्तार होता है, न कि *एग्रीगेटिव* विस्तार मानो इलाकों के जुड़ने से ही निवेश के अवसर मिलते हों। *माटसाब* और मूर्खेश असीम की यह पूरी "समझदारी" असीम रूप से मूर्खतापूर्ण है। निवेश के अवसरों के कम होने या समाप्त होने का इलाकों या बाह्य क्षेत्रों के समाप्त होने

से कोई कारणात्मक सम्बन्ध नहीं है। यह निवेश के अवसरों की एक स्थैतिक समझदारी है जो कि पूंजीवाद की गतिकी के साथ मेल नहीं खाती है। बहरहाल, मूल मसला यह है कि *माटसाब* हमारे पुराने लेखन को पढ़कर भी उसे सन्दर्भ समेत समझ नहीं पाए हैं और बस "शब्द, शब्द, शब्द" पढ़ रहे हैं। हमारी पहले की समझदारी को देखने के लिए 2017 में साम्राज्यवाद व संकट पर पेश इस पेपर को पढ़ें:

https://redpolemique.wordpress.com/2018/04/15/marxist-theories-of-imperialism-from-marx-to-present-times-a-contemporary-critical-reassessment/

और साथ ही *माटसाब* को 2017 का ही हमारा मार्क्सवादी संकट सिद्धान्त पर पेश पेपर भी पढ़ लेना चाहिए, हालांकि इसे भी वह समझ पाएंगे, ऐसी किसी ग़फ़लत में हम नहीं हैं: http://english.arvindtrust.org/wp-content/uploads/2019/09/Seminar-Paper-2nd-Abhinav-Sinha.pdf

साथ ही *माटसाब* 2017 में न्यूयॉर्क लेफ्ट फोरम में अभिनव द्वारा पेश इस पेपर को भी देख सकते हैं:

https://redpolemique.wordpress.com/2018/04/08/marxs-capital-150-years-and-beyond-old-and-new-controversies-a-critical-reappraisal/

इसलिए *माटसाब* को अपनी कल्पना की दुनिया में तमाम बोधिज्ञान प्राप्त होते रहते हैं, मसलन, यह कि "वास्तविक आन्दोलन की चोट से" हमने अपनी कार्यदिशा परिवर्तित कर ली! लेकिन 2017 के हमारे उपरोक्त पेपरों में ही उन्हें हमारी समझदारी दिख जाएगी और उन्हें पता लग जाएगा कि हमारी समझदारी संकट को लेकर वही है, जो पहले थी। ज़ाहिर है, इसका यह अर्थ नहीं है कि हमारे पास शुरू से ही संकट की यह मार्क्सवादी समझदारी *बाई-डिफॉल्ट* मौजूद थी। हमारे दस, बारह या पन्द्रह वर्ष या उससे भी पहले के पुराने लेखन में संकट की यह मार्क्सवादी समझदारी स्पष्ट रूप में नहीं भी मिल सकती है, क्योंकि भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन में शुरू से ही अल्पउपभोगवाद और *डिस्प्रपोर्शनैलिटी थीसिस* का प्रभाव काफ़ी ज़्यादा रहा है और एक संगठन के तौर पर डेढ़-दो दशक पहले हम भी विरासत में मिली इस समझदारी से प्रभावित थे। **लेकिन संकट की हमारी समझदारी पिछले कई वर्षों से यही है कि मुनाफे की औसत दर में गिरने की दीर्घकालिक प्रवृत्ति ही संकट का आधारभूत कारण है; अतिउत्पादन, अल्पउपभोग व *डिस्प्रपोर्शनैलिटी* इसकी परिघटनात्मक अभिव्यक्तियां हैं, न कि आधारभूत कारण; कोई भी पूंजीवादी आर्थिक संकट निरपेक्ष रूप से स्थाई और अन्तिम संकट नहीं होता है, हालांकि दीर्घकालिक संकट पूंजीवादी व्यवस्था में बिल्कुल सम्भव है; संकट के संरचनात्मक *हो जाने* का इस्तवान मेस्जारोस का सिद्धान्त बिल्कुल बकवास है, संकट हमेशा से संरचनात्मक ही था और ऐसा ही हो सकता है और उसका यह अर्थ कतई नहीं होता है कि वह निरपेक्ष रूप से स्थाई है। यह मार्क्सवादी संकट सिद्धान्त की बुनियादी बातें हैं, जिन्हें समझना बेहद ज़रूरी है।** यह विश्व राजनीतिक परिस्थिति का एक समयबद्ध राजनीतिक मूल्यांकन हो सकता है कि मौजूदा दीर्घकालिक संकट किसी वैश्विक पैमाने के युद्ध के ज़रिये समाप्त हो और कोई तेज़ी का नया दौर आए, उससे पहले ही क्रान्तियों का सिलसिला शुरू हो जाएगा। यह निरपेक्ष रूप से स्थाई संकट का कोई सिद्धान्त नहीं है, बल्कि विश्व पैमाने पर वर्ग संघर्ष की स्थिति का एक समयबद्ध (temporal) मूल्यांकन है।

लेकिन *माटसाब* को जब मोटी चीज़ें ही समझ में नहीं आती हैं, तो बारीक चीज़ों को समझने की उनसे आशा करना आकाश-कुसुम की अभिलाषा के समान है! बहरहाल, इतना स्पष्ट है जब कोई निरपेक्ष अर्थों में 'स्थाई संकट' की बात करता है, तो निश्चित ही वह वैज्ञानिक तौर पर ग़लत बात कर रहा है और इस बात का मार्क्स के संकट के सिद्धान्त से कोई रिश्ता नहीं है।

आगे बढ़ते हैं।

पटना के दोन किहोते को लगता है भारतीय कृषि में आर्थिक संकट के मूल में 'अतिउत्पादन' है। यह समझदारी ही ग़लत है। यह सिस्मोंदी की और नरोदनिक समझदारी है, कीन्सवादी समझदारी है। मास्टरजी की नरोदवादी समझदारी और अधिक स्पष्ट हो सके इसलिए हम उनकी संकट, पूंजी संचय और विस्तारित पुनरुत्पादन की समझदारी पर निगाह डाल लेते हैं। वह कहते हैं कि:

"हम जानते हैं कि वर्तमान किसान आंदोलन के पीछे का सबसे बड़ा कारण भी यह आर्थिक संकट ही है और अगर कृषि क्षेत्र की वर्तमान उत्पादन क्षमता की ही खपत नहीं हो पा रही है तो कॉर्पोरेट पूंजीपति यहां और अधिक उत्पादन क्षमता में निवेश क्यों करेंगे?"

"ऐसे में कॉर्पोरेट पूंजी के प्रवेश से विस्तारित उत्पादन की उम्मीद करना, रोजगार के मौके बढ़ने तथा मज़दूरों के शोषण की दर गिरने, मज़दूरी की दर बढ़ने आदि के सपने देखना कोई मार्क्सवादी-लेनिनवादी नहीं टुटपुंजिया कॉर्पोरेट समर्थक ही कर सकता है जो स्वयं तो पूंजी खंड-एक के काल में आज भी जीता है और सावन के अंधे की तरह चीजों को देखता-परखता है, वहीं गरीब किसानों को कॉर्पोरेट का दुमच्छला बनाने पर तुला है।" (कॉर्पोरेट को लाल सलाम कहने की बेताबी में शोर मचाती 'महान मार्क्सवादी चिंतक' और 'पूंजी के अध्येता' की 'मार्क्सवादी मंडली' का घोर राजनैतिक पतन [2], 'यथार्थ' अंक 12)

पटना के दोन किहोते बताते हैं कि हम (यानी 'आह्वान') 'पूंजी' खण्ड-1 के काल में जीते हैं क्योंकि हम मानते हैं कि आज विस्तारित पुनरुत्पादन सम्भव है। यानी मास्टरजी के अनुसार 'पूंजी', खण्ड-1 में बताए गए पूंजीवादी व्यवस्था के गति के नियम आज लागू नहीं होते हैं! मास्टरजी का मार्क्सवाद यह है! हम उनके संकट के सिद्धान्त पर कुछ आगे आएंगे, लेकिन पहले यह समझ लेते हैं कि आज हम 'पूंजी' खण्ड-1 के युग में जी रहे हैं या नहीं। कुछ मूर्खों को यह लगता है कि साम्राज्यवाद का चरण आने की वजह से मार्क्स द्वारा 'पूंजी' खण्ड-1 में बताए गए पूंजीवाद के गति के नियम आज लागू नहीं होते हैं। वह सबसे पहले तो लेनिन को ही खण्डित कर रहे हैं। पूंजीवाद साम्राज्यवाद के युग में ठीक उन्हीं गति के नियमों के चलते पहुंचता है, जिन्हें मार्क्स ने 'पूंजी' खण्ड-1 में विस्तार से समझाया है। वे आम नियम क्या हैं? मार्क्स के शब्दों में वे आम नियम हैं 'पूंजी संचय के आम नियम'। यानी, यह पूंजी की आन्तरिक प्रवृत्ति का अंग है कि वह या तो फैलती है या नष्ट होती है। साम्राज्यवाद की मंजिल आने का यह अर्थ नहीं है कि पूंजी संचय के ये आम नियम समाप्त हो गये, बल्कि साम्राज्यवाद की मंजिल आती ही इन गति के नियमों के कारण है और साम्राज्यवाद इन्हीं गति के नियमों से संचालित होता है। साम्राज्यवाद की मंजिल आने का यह अर्थ नहीं है कि अब पूंजी संचय रुक जाएगा, विस्तारित पुनरुत्पादन रुक जाएगा, पूंजीवाद के संकट का मार्क्स का नियम बदल जाएगा और अब संकट अल्पउपभोग के कारण पैदा होने लगेगा। जिन्हें ऐसा लगता है, उन्हें 'पूंजी' खण्ड-1 तो दोबारा पढ़ ही लेनी चाहिए (अगर उन्होंने पहली बार पढ़ा हो तो!) और साथ ही लेनिन की 'साम्राज्यवाद: पूंजीवाद की चरम अवस्था' भी दोबारा पढ़ लेनी चाहिए।

अब देखते हैं कि *माटसाब* ने संकट का कारण क्या बताया है। उनका कहना है कि विस्तारित पुनरुत्पादन असम्भव है क्योंकि पहले ही जो उत्पादन हो रहा है, उसका उपभोग नहीं हो पा रहा है! यानी उत्पादन का उपभोग न हो पाना *माटसाब* के लिए संकट का और विस्तारित पुनरुत्पादन न हो पाने का कारण है। **लेकिन मार्क्स इसके बारे में क्या कहते हैं? मार्क्स पूछते हैं कि पूंजीवाद में हो रहे उत्पादन का उपभोग कम क्यों होता है? इसका जवाब होता है कि लोग पर्याप्त माल नहीं ख़रीद रहे हैं, या पर्याप्त उपभोग नहीं कर रहे हैं। मार्क्स पूछते हैं कि लोग कम क्यों ख़रीद रहे हैं, या, कम क्यों उपभोग कर रहे हैं? अल्पउपभोगवादी जवाब देते हैं कि चूंकि लोगों के पास पर्याप्त क्रय-शक्ति नहीं है। मार्क्स पूछते हैं कि लोगों के पास पर्याप्त क्रय-शक्ति क्यों नहीं है? अल्पउपभोगवादी जवाब देते हैं कि समाज के मेहनतकश वर्गों की औसत आय कम है इसलिए वे अपना उपभोग नहीं बढ़ा पाते हैं। मार्क्स पूछते हैं कि औसत आय कम क्यों है? अल्पउपभोगवादी बताते हैं कि समाज में बेरोज़गारी की वजह से औसत आय कम है। मार्क्स पूछते हैं कि बेरोज़गारी क्यों है? अल्पउपभोगवादी जवाब देते हैं कि पूंजी निवेश पर्याप्त नहीं हो रहा है, इसलिए बेरोज़गारी है। मार्क्स पूछते हैं कि पूंजी निवेश कम क्यों हो रहा है? अल्पउपभोगवादी कहते हैं कि मुनाफे पर निवेश के अवसर नहीं हैं। यहीं पर अल्पउपभोगवादी फंस जाते हैं।** मार्क्स बताते हैं कि मुनाफे योग्य निवेश के पर्याप्त अवसर इसलिए नहीं हैं क्योंकि मुनाफे की औसत दर में गिरने की दीर्घकालिक प्रवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति दो संघर्षों के कारण होती है: पहला, पूंजीपति वर्ग का आपसी संघर्ष या प्रतिस्पर्द्धा और दूसरा, पूंजीपति वर्ग और मज़दूर वर्ग के बीच संघर्ष या प्रतिस्पर्द्धा। दोनों प्रतिस्पर्द्धाओं को समझ लेते हैं।

पहली प्रतिस्पर्द्धा होती है अपनी लागत को न्यूनातिन्यून बनाकर सस्ते से सस्ता माल बेचने की क्षमता अर्जित करना। यह क्षमता कैसे अर्जित की जाती है? यह अर्जित की जाती है श्रम की उत्पादकता बढ़ाकर, जिसके कारण प्रति इकाई लागत कम हो जाती है और प्रति इकाई मुनाफा बढ़ जाता है। इस प्रतिस्पर्द्धा में पूंजीपति अधिक से अधिक उन्नत तकनोलॉजी व मशीनरी लगाते हैं। नतीजतन, पूंजी का आवयविक संघटन बढ़ता है और मुनाफे की दर अन्ततः गिरती है, हालांकि तात्कालिक तौर पर शोषण की दर बढ़ने, यानी बेशी मूल्य की दर बढ़ने के चलते वह बढ़ भी सकती है।

अब आते हैं दूसरी प्रतिस्पर्द्धा पर। मज़दूर वर्ग और पूंजीपति वर्ग में किस बात की प्रतिस्पर्द्धा होती है? यह प्रतिस्पर्द्धा होती है नये सृजित मूल्य में अपना-अपना हिस्सा बढ़ाने की। पूंजीपति वर्ग मुनाफे का हिस्सा बढ़ाना चाहता है, जबकि मज़दूर वर्ग मज़दूरी का हिस्सा बढ़ाने के लिए संघर्ष करता है। मज़दूरों के इस संघर्ष के जवाब में पूंजीपति मज़दूरों पर अपनी निर्भरता को कम करने और मज़दूरों की मोलभाव की क्षमता को घटाने के लिए तकनोलॉजी और मशीनरी में निवेश करता है। नतीजतन, फिर से पूंजी का आवयविक संघटन बढ़ता है और मुनाफे की दर अन्तत: गिरती है। अन्तत: इसलिए, क्योंकि जब तक उन्नत तकनोलॉजी और मशीनों पर कुछ पूंजीपतियों का अधिकार होता है, तब तक उन्हें अस्थायी तौर पर एक बेशी मुनाफा प्राप्त होता है, लेकिन जैसे ही यह तकनोलॉजी और मशीनरी समूचे पूंजीपति वर्ग के अधिकार में आ जाती है, वैसे ही यह बेशी मुनाफा समाप्त होता है और मुनाफे की दर पहले की तुलना में गिरती है।

ये दो प्रतिस्पर्धाएँ पूँजीपति वर्ग की इच्छाओं से स्वतंत्र एक 'प्राकृतिक शक्ति के समान' कार्य करती है। इस वजह से पूँजी का आवयविक संघटन बढ़ता है और एक दीर्घकालिक प्रवृत्ति के तौर पर मुनाफे की दर गिरती है। मुनाफे की दर को गिरने से तात्कालिक तौर पर दो कारक रोकते हैं: पहला बेशी मूल्य की दर को बढ़ाना और दूसरा स्थिर पूंजी के तत्वों का सस्ता होता जाना। जहां तक पहले कारक का प्रश्न है तो जैसा कि मार्क्स ने कहा था 2 मज़दूर 24 घण्टे काम करके भी उतना मूल्य नहीं सृजित कर सकते जितना कि 24 मज़दूर 2 घण्टे में कर सकते हैं। चूंकि श्रमकाल को बढ़ाने की एक भौतिक सीमा होती है, इसलिए अतिरिक्त श्रमकाल और अतिरिक्त मूल्य की दर को बढ़ाने की भी एक सीमा होती है। इसलिए मार्क्स कहते हैं कि 'अगर मज़दूर केवल हवा पर भी जिये', तो भी अन्तत: मुनाफ़े की दर को गिरने से अतिरिक्त मूल्य की दर को बढ़ाकर नहीं रोका जा सकता है, क्योंकि उसकी एक भौतिक सीमा होती है।

दूसरा कारण जो कि मुनाफ़े की दर के गिरने की प्रक्रिया को अस्थायी तौर पर रोकता या धीमा करता है वह है स्थिर पूँजी के तत्वों का सस्ता होना क्योंकि उत्पाकदता आम तौर पर बढ़ने के साथ वे भी सस्ते होते हैं। लेकिन मार्क्स ने बताया कि मशीनों व अन्य उत्पादन के साधनों की प्रति इकाई कीमत कम होती है, लेकिन पूँजी संचय और विस्तारित पुनरुत्पादन होने के कारण 'नयी मशीनों का नया तंत्र' (new system of machines) हमेशा पहले से ज्यादा मूल्य का होता है, इसके अतिरिक्त किसी और चीज़ की कल्पना करना विसंचय की कल्पना करना है, जो कि पूंजीवाद का आम नियम नहीं है। इसलिए ये प्रतिरोधी कारक (countervailing factors), मार्क्स के शब्दों में मुनाफ़े की दर के गिरने के नियम को खारिज नहीं करते बल्कि उसे मुनाफ़े के दर के गिरने की दीर्घकालिक प्रवृत्ति के नियम में तब्दील कर देते हैं। इस पर हाल ही में एक बड़ी बहस हुई है माइकल हाइनरिश तथा क्लासिकीय मार्क्सवादी अर्थशास्त्रियों में जैसे कि एण्ड्रू क्लाईमन, गुगलिएल्मो कारचेदी, माइकल रॉबर्ट्स, आदि। साथ ही इस विषय पर विशेष तौर पर अनवर शेख के कार्य को पढ़ा जा सकता है। लेकिन इस बहस में क्लासिकीय मार्क्सवादी अवस्थिति रखने वाले अध्येताओं ने और कुछ नहीं किया है, बस मार्क्स की अवस्थितियों को ही ज्यों-का-त्यों पेश कर दिया है और समकालीन आंकड़ों से उन्हें पुष्ट और स्पष्ट किया है।

इस पूरे तर्क को इस रूप में भी समझा जा सकता है कि उत्पादन की कोई विशिष्ट मात्रा नहीं होती है जिसके ऊपर उत्पादन होने पर अतिउत्पादन हो जाता है! उत्पादन की कोई भी मात्रा *अपने आप में* अतिउत्पादन नहीं होती है। मुनाफ़े की दर ऊंची होने पर उत्पादन की वही मात्रा उपयुक्त या कम भी हो सकती है, जोकि मुनाफ़े की दर के गिरने पर अतिउत्पादन की श्रेणी में आ जाती है। जैसा कि मार्क्स ने पहले ही बताया था, "any plethora of capital is the plethora that cannot be invested profitably" यानी पूँजी का कोई भी आधिक्य वह आधिक्य है जिसे मुनाफे पर निवेशित नहीं किया जा सकता है। **यह पूंजीवाद की प्रकृति में निहित है और साम्राज्यवाद का दौर आने पर भी यही होता है, पूंजीवाद के आम नियम नहीं बदल जाते, जैसा कि पटना के इस बौद्धिक बौने को लगता है, जो 'पूंजी' से आगे जाने के गंजे सपने देख रहा है।**

हम देखेंगे कि विस्तारित पुनरुत्पादन असम्भव है, यह अलग-अलग प्रकार के अल्पउपभोगवादियों का पुराना तर्क है। तीन प्रकार के अल्पउपभोगवादी पाए जाते हैं: पहला, माल्थसवादी, जिनका मानना है कि अतिउत्पादन को खपाने के लिए जो बाह्य ख़रीदार या 'तीसरा ख़रीदार' चाहिए वह परजीवी वर्गों, यानी सामन्ती भूस्वामियों व कुलीन वर्गों में मिलता है, इसलिए इन परजीवी वर्गों का जीवित रहना आवश्यक है, वरना उत्पादन खप नहीं सकेगा। दूसरा, टुटपुंजिया अल्पउपभोगवादी, जिसमें सिस्मोंदी, प्रूधों, नरोदवादी, संशोधनवादी और तरह-तरह के कींसवादी व नव-कींसवादी (ज़ाहिर है, इन सब में आपसी अन्तर भी हैं) आते हैं, जिनका मानना है कि अतिरिक्त उत्पाद का खरीदार मज़दूर-मेहनतकश होंगे, यदि उनकी आय बढ़ा दी जाय;

तीसरे प्रकार के अल्पउपभोगवादी 'क्रान्तिकारी' अल्पउपभोगवादी हैं, जैसे कि रोज़ा लक्जेमबर्ग और उनके पदचिन्हों पर चलने वाले, मसलन, 'मंथली रिव्यू' स्कूल, डेविड हार्वी आदि। इनका मानना है कि जब तक विश्व में साम्राज्यवाद के विस्तार की गुंजाइश थी, तब तक पिछड़े देशों के माल उत्पादकों व जनता के रूप में साम्राज्यवाद को अतिरिक्त उत्पाद का ख़रीदार मिल सकता था, लेकिन जब साम्राज्यवाद पूरी दुनिया में फैल गया है, तो उसे यह तीसरा ख़रीदार नहीं मिलेगा और विस्तारित पुनरुत्पादन ही नहीं हो सकेगा और पूंजीवाद "अपरिहार्य रूप से गिर पड़ेगा।" **यह तीसरा अल्पउपभोगवाद ही है जो कि दुनिया भर के कम्युनिस्ट आन्दोलन में काफ़ी प्रभावी रहा है और इसी का एक बेहद मरा-गिरा और बौना संस्करण *माटसाब* और मूर्खेश असीम पेश करते हैं।**

यहां *माटसाब* ने यह भी दिखला दिया है कि उन्हें हमारी अवस्थिति भी समझ में नहीं आई है और उन्हें शोषण की दर और मुनाफे की दर में अन्तर नहीं पता है। बेशी मूल्य की दर शोषण की दर है क्योंकि वह शुद्ध रूप में अतिरिक्त श्रमकाल और अनिवार्य श्रमकाल, मूल्य रूप में, बेशी मूल्य व परिवर्तनशील पूंजी, का अनुपात (s/v) दिखलाती है। यह पूंजीवाद में आम तौर पर एक प्रवृत्ति के तौर पर बढ़ती ही है। हमने कहीं भी नहीं लिखा कि यह घटती है। *माटसाब* इसे मुनाफे की दर से कन्फ्यूज़ कर गए हैं क्योंकि उन्हें इन दोनों में अन्तर ही नहीं पता है। यह मुनाफे की दर है जो दीर्घकालिक प्रवृत्ति के रूप में गिरती है। मुनाफे की दर बेशी मूल्य और कुल निवेशित पूंजी का अनुपात [s/(c+v)] होता है। यह अन्ततः इसलिए गिरता है क्योंकि श्रमकाल की एक भौतिक सीमा होती है, जिसके बाद उसे बढ़ाया नहीं जा सकता है और नतीजतन अतिरिक्त श्रमकाल को भी उस सीमा के बाद बढ़ाया नहीं जा सकता है। लेकिन पूंजियों की आपसी प्रतिस्पर्द्धा के कारण स्थिर पूंजी फिर भी बढ़ती रहती है, ताकि उसी मूल्य को अधिक उपयोग मूल्यों पर वितरित कर प्रति माल लागत और इसलिए उसकी कीमत को कम किया जा सके। **यही कारण है कि अन्ततः मुनाफे की दर गिरती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि शोषण की दर गिरती है, जैसा कि पटना के इस बौद्धिक बौने को लगता है।**

एक बार फिर से स्पष्ट है कि पटना के दोन किहोते को मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र का इमला भी नहीं आता है। अब देखते हैं कि इस प्रकार के अल्पउपभोगवादी विचारों के बारे में लेनिन ने क्या लिखा है। मास्टरजी का तर्क इस प्रकार है: बड़ी इजारेदार पूंजी का खेती में प्रवेश होने से कोई विस्तारित पुनरुत्पादन नहीं हो सकता क्योंकि आज खेती में पहले से ही जो उत्पादन हो रहा है, वह खप नहीं पा रहा है। आर्थिक संकट के बारे में मास्टरजी का उपरोक्त कथन रूसी नरोदनिकों के बारे में लेनिन के विवरण से मेल खाता है। लेनिन कहते हैं:

"Sismondi asserted that as a result of the development of large-scale enterprise and wage-labour in industry and agriculture, production inevitably outruns consumption and is faced with the insoluble task of finding consumers." (Lenin, **A Characterisation of Economic Romanticism**)

लेनिन सिस्मोंदी की पूंजी संचय और संकट की अवधारणा को पेश करते हुए बताते हैं:

"Sismondi's view that accumulation (the growth of production in general) is determined by consumption, and his incorrect explanation of the realisation of the aggregate social product (which he reduces to the workers' share and the capitalists' share of revenue) naturally and inevitably led to the doctrine that crises are to be explained by the discrepancy between production and consumption." (Lenin, **A Characterisation of Economic Romanticism**)

बेरोज़गारी और गांवों की तबाही का मास्टरजी का सिद्धांत भी हूबहू रूसी नरोदनिकों सरीखा है। लेनिन रूसी नरोदनिकों के नज़रिये को स्पष्ट करते हैं:

"In this case, too, this relation is the same as in all the preceding cases: on the subject of surplus population, the Narodniks adhere entirely to the viewpoint of romanticism, which is diametrically opposite to that of the modern theory. Capitalism gives no employment to displaced workers, they say. This means that capitalism is impossible, a "mistake," etc. But it does not "mean" that at all. Contradiction does not mean impossibility (*Widerspruch* is not the same as *Widersinn*). Capitalist accumulation, i.e., real production for the sake of production, is

also a contradiction. But this does not prevent it from existing and from being the law of a definite system of economy. The same must be said of all the other contradictions of capitalism." (Lenin, **A Characterisation of Economic Romanticism**)

अन्तत: लेनिन सिस्मोंदी की पूंजी संचय और आर्थिक संकट की अवधारणा को मार्क्सवादी अवधारणा के बरक्स रखकर स्पष्ट करते हैं:

"The scientific analysis of accumulation in capitalist society and of the realisation of the product undermined the whole basis of this theory, and also indicated that it is precisely in the periods which precede crises that the workers' consumption rises, that underconsumption (to which crises are allegedly due) existed under the most diverse economic systems, whereas crises are the distinguishing feature of only one system—the capitalist system. This theory explains crises by another contradiction, namely, the contradiction between the social character of production (socialised by capitalism) and the private, individual mode of appropriation. The profound difference between these theories would seem to be self-evident, but we must deal with it in greater detail because it is the Russian followers of Sismondi who try *to obliterate* this difference and to confuse the issue. The two theories of which we are speaking give totally different explanations of crises. The first theory explains crises by the contradiction between production and consumption by the working class; the second explains them by the contradiction between the social character of production and the private character of appropriation." (Lenin, **A Characterisation of Economic Romanticism**)

लेनिन के अनुसार खेती में भी आर्थिक संकट की वजह से उत्पादन रुकता नहीं है बल्कि यह श्रम के अधिक सामाजीकरण की ओर धकेलता है:

"The emergence of separate types of commercial agriculture renders possible and inevitable capitalist crises in agriculture and cases of capitalist overproduction, but these crises (like all capitalist crises) give a still more powerful impetus to the development of world production and of the socialisation of labour." (Lenin, **The DEVELOPMENT of CAPITALISM in RUSSIA**)

यानी, अतिउत्पादन पूंजीवाद को स्थैतिक या ठहरावग्रस्त नहीं बना देता है बल्कि वह उत्पादन और श्रम के समाजीकरण और भी विकसित करता है और एक नये स्तर पर ले जाता है। यह बात साम्राज्यवाद के युग में भी लागू होती है, जबकि मुनाफे की गिरती दर का संकट जिस अतिउत्पादन को जन्म देता है, वह पूंजी के संकेन्द्रण और केन्द्रीकरण और इसलिए उत्पादन और श्रम के समाजीकरण को और अधिक बढ़ाता है, जैसा कि हम आगे आंकड़ों से भी देखेंगे।

आर्थिक संकट का बुनियादी कारण उत्पादन का सामाजिक चरित्र और निजी हस्तगतीकरण का बुनियादी अन्तरविरोध है जो कि मार्क्स के अनुसार मुनाफ़े की दर के गिरने की प्रवृति के अन्तरविरोध के रूप में प्रकट होता है। अतिउत्पादन इसकी मुख्य अभिव्यक्ति है। मज़दूरों के बीच अल्पउपभोग से लेकर उत्पादन के दो प्रमुख विभागों के बीच *डिस्प्रपोर्शनैलिटी* (disproportionality), यानी उत्पादन की अराजकता, मुनाफ़े की औसत दर के गिरने के संकट के लक्षण मात्र हैं न कि उसके आधारभूत कारण। हम जानते हैं कि मज़दूर अपनी मज़दूरी से ज्यादा मूल्य के उत्पाद नहीं खरीद सकते हैं। और मज़दूरी पूँजी निवेश का ही एक अंग और उसका प्रकार्य होता है। मज़दूरी में हम यहाँ शारीरिक और मानसिक श्रम दोनों को जोड़कर चल रहे हैं। इसलिए संकट का संबंध इससे होता ही नहीं है कि मज़दूर और आम मेहनतकश आबादी क्या या कितना खरीदती है। इसलिए पूँजीपति वर्ग के लिए अतिरिक्त उत्पाद के लिए *वास्तविक प्रभावी माँग* मज़दूर वर्ग में नहीं बल्कि पूँजीपति वर्ग के भीतर पैदा होती है। इसलिए जीविकोपार्जन की वस्तुओं (वेज गुड्स) के बाज़ार में अतिउत्पादन और मज़दूरों का अल्उपभोग संकट का कारण नहीं होता है, हालाँकि यह संकट के तमाम लक्षणों में एक लक्षण अवश्य हो सकता है। पूँजीपति वर्ग के लिए वास्तविक और प्रभावी अतिउत्पादन मुख्य तौर पर उत्पादन के साधनों का अतिउत्पादन होता है। यह अतिउत्पादन तब होता है जब पूँजीपति वर्ग के भीतर होने वाला विनिमय यानी खरीद और बिकवाली गिरने लगती है या रुक जाती है। पूँजीपति

वर्ग आपस में जीविकोपार्जन की वस्तुएँ (वेज गुड्स), ऐशोआराम के सामान (लक्ज़री गुड्स) और उत्पादन के साधन (प्रोडक्शन गुड्स) तीनों ही खरीदता-बेचता है, लेकिन इस विनिमय का सबसे बड़ा हिस्सा उत्पादन के साधनों का होता है। अतिउत्पादन के संकट का प्रश्न मज़दूर और आम मेहनतकश आबादी की ख़रीदारी से नहीं जुड़ा होता है बल्कि अतिउत्पादन का संकट पूँजीपतियों की आपसी ख़रीदारी पर निर्भर करता है।

पूँजीपति कब उत्पादन के साधन ख़रीदते हैं और कब इस प्रकार की ख़रीद और बिकवाली में गिरावट आती है? उत्पादन के साधनों की ख़रीद में बढ़ोत्तरी की प्रवृत्ति तब देखी जाती है जब पूँजीपति वर्ग के पास आम तौर पर लाभप्रद निवेश के पर्याप्त अवसर होते हैं। लेकिन अगर मुनाफे की औसत दर गिरती है तो निवेश भी कम होता जाता है। जब निवेश कम होता है तो पूँजीपति आपस में भी खरीदारी भी कम कर देते हैं और उसकी वजह से उत्पादन के साधन बिकते नहीं और बेकार पड़े रहते हैं और यही अतिउत्पादन और पूँजी के अति संचय के रूप में प्रकट होता है और यही वित्तीयकरण की ओर भी ले जाता है। वित्तीयकरण संकट का कारण नहीं जैसा कि डूमेनिल व लेवी जैसे अर्थशास्त्रियों का मानना है, और *माटसाब* और *माटसाब* के *माटसाब* जैसे मूर्ख भी इसी प्रकार का तर्क देते हैं कि ज़्यादा निवेश सट्टेबाज़ी में हो रहा है इसलिए संकट है! इसी के साथ अतिउत्पादन का आम संकट भी पैदा होता है। चूँकि निवेश की दर गिरती जाती है इसलिए छँटनी-तालाबन्दी होती है और मज़दूरों को काम से निकाला जाता है और इसलिए उनकी भी उपभोग की दर में गिरावट आती है और उपभोग की वस्तुओं के बाजार में भी अतिउत्पादन का संकट दिखाई पड़ता है। लेकिन मज़दूर वर्ग का यह अल्पउपभोग संकट का आधारभूत कारण नहीं है बल्कि एक लक्षण या परिणाम है। बहरहाल, इस पूरी प्रक्रिया में अतिउत्पादन एक आम लक्षण के तौर पर प्रकट होता है। लेकिन इस अतिउत्पादन के मूल में मुनाफ़े की औसत दर का गिरना है।

जैसा कि हमने ऊपर देखा है, अल्पउपभोग और अतिउत्पादन, दोनों ही मुनाफे के संकट की अभिव्यक्तयां हैं। जब मुनाफ़े की औसत दर घटेगी तो लाभप्रद निवेश के अवसर घटेंगे। लाभप्रद निवेश के अवसर घटेंगे तो पूँजीपति वर्ग के निवेश की दर नीचे आयेगी। निवेश की दर नीचे जायेगी तो मार्क्स के शब्दों में उत्पादित माल की, चाहे वह उत्पादन के साधन हों या वेज गुड्स हों, बिकने की प्रक्रिया धीमी हो जायेगी और अतिउत्पादन प्रकट होगा और अल्पउपभोग भी।

यानी कि अतिउत्पादन मुनाफ़े की दर के संकट से पैदा होता है और उसकी अभिव्यक्ति है, न कि इसके उल्टा। परन्तु कुछ लोग इसे सिर के बल खड़ा कर देते हैं। **मुनाफ़े के दर के गिरने की दीर्घकालिक प्रवृत्ति के आधारभूत कारण को समझना इसलिए आवश्यक है क्योंकि यही व्याख्या दिखलाती है कि घरेलू माँग बढ़ाकर, सरकारी खर्च बढ़ाकर, अवरचनागत उद्योगों में सरकारी निवेश करके, वित्तीय विनियमन करके पूँजीवादी संकट का समाधान नहीं किया जा सकता है। माटसाब की संकट की व्याख्या भी उन्हें एक सुधारवादी समाधान पर पहुंचाती है, न कि क्रान्तिकारी समाधान पर, क्योंकि यदि समस्या अतिउत्पादन/अल्पउपभोग है, तो फिर समाधान राज्य द्वारा कल्याणकारी सामाजिक खर्च बढ़ाकर औसत आय में बढ़ोत्तरी करना है।** गांव के ग़रीबों के लिए ऐसा ही समाधान देवेन्दर शर्मा जैसे टुटपुंजिया लोगों से लेकर संशोधनवादी बुद्धिजीवी, जैसे कि प्रभात पटनायक, जयति घोष और सी.पी. चन्द्रशेखर भी पेश कर रहे हैं। पूँजीवादी संकट का समाधान पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर स्थायी तौर पर सम्भव ही नहीं है और अस्थायी तौर पर यह संकट पूँजी के अवमूल्यन (डीवेलोराइज़ेशन), बेरोज़गारी के द्वारा औसत मजदूरी के नीचे जाने, छोटी पूंजियों के संकट के दौर में समाप्त होने, के ज़रिये हल होता है, और सिर्फ आवर्ती चक्रीय क्रम में पहले से भी ज्यादा गम्भीर रूप में प्रकट होने के लिए। इसलिए संकट यदि एक सामाजिक और राजनीतिक संकट में तब्दील होकर क्रान्तियों और सामाजिक उथल-पुथल की ओर नहीं जाता है तो वह पूँजीवादी व्यवस्था के लिए एक *कैथार्सिस* के समान भी होता है, यानी एक तकलीफदेह शुद्धि जिसमें छोटे पूंजीपति तबाह होते हैं (जिसका यह अर्थ नहीं कि कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की हमदर्दी उनके साथ होती है!), इज़ारेदारीकरण की प्रक्रिया आगे बढ़ती है, मज़दूर बेरोज़गार होते हैं, और आम मेहनतकश अवाम का जीवन पहले से मुश्किल हो जाता है। लेकिन मुनाफ़े की दर *रीस्टोर* होने के बाद फिर वही पुरानी कहानी शुरू होती है: प्रतिस्पर्द्धा के कारण पूँजी का बढ़ता आवयविक संघटन, मुनाफ़े की गिरती दर, जिसे अतिरिक्त मूल्य की दर में होने वाली वृद्धि और मशीनों का अवमूल्यन बस कुछ समय के लिए एक सीमा तक रोकता है।

यह है मार्क्स का संकट सिद्धान्त जो 'पूंजी' खण्ड-1 के युग में भी सही था, लेनिन के साम्राज्यवाद के युग में भी सही है और इस युग के नवीनतम दौर, यानी नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के दौर में भी सही है। इन चरणों के आने से पूंजी के मूल नियम नहीं बदल जाते। 'पूंजी' के पार जाने का मूर्खतापूर्ण बौद्धिक प्रयास पहले भी कई बुर्जुआ अकादमिक कर चुके हैं। माटसाब भी यही करने का प्रयास कर

रहे हैं, बस फर्क इतना है, कि माटसाब का प्रयास हास्यास्पद होने की हद तक दयनीय, दरिद्र और अज्ञानतापूर्ण है।

उपरोक्त चर्चा के बाद हम मास्टरजी को दिखाएंगे कि आज साम्राज्यवाद किस तरह 'विकसित' हो रहा है। यानी मास्टरजी की तमाम कल्पनाओं के बावजूद पूंजी का संकेन्द्रण और केन्द्रीकरण जारी है। यानी पूंजी का संचय जारी है। पूंजीवाद विस्तारित पुनरुत्पादन करने में सक्षम है। आज के दौर में तमाम मार्क्सवादी अर्थशास्त्रियों ने यह प्रदर्शित किया है कि असल में आर्थिक संकट के पीछे मुनाफे की औसत दर के गिरने की प्रवृत्ति मौजूद है। यह भी पूंजी के आवयविक संघटन से निर्धारित होता है। अल्पउपभोगवादी मौजूदा दौर में आर्थिक संकट को इस व्यवस्था के 'inevitable collapse' के रूप में पेश करते हैं। **आइये कुछ आंकड़ों के जरिये भी यह देख लिया जाय कि आज भी पूंजी संचय की प्रक्रिया जारी है, विस्तारित पुनरुत्पादन जारी है, पूंजी का संकेन्द्रण व केन्द्रीकरण जारी है तथा साथ ही यह कि मौजूदा संकट अतिउत्पादन की वजह से नहीं बल्कि मुनाफे की औसत दर के गिरने का परिणाम है।**

गुगलियेल्मो कारदेची ने दिखाया है कि किस तरह मुनाफे की दर के गिरने और आवयविक संघटन में कारणात्मक सम्बन्ध होता है:

Fall in Actual rate of profit	**% Rise in OCC from pre-crisis to crisis years**
1948: 17.3	**1948 (1.02)**
1960: 10.8	**1960 (1.08)**
1969: 10.3	**1969 (1.13)**
1980: 10.1	**1980 (1.28)**
1990: 7.1	**1990 (1.50)**
2000: 6.4	**2000 (1.75)**
2007: 11.0	**2007 (2.15)**

(G. Carchedi, **The Great Recession: A profitability Crisis**)

यह विश्लेषण माइकल रॉबर्ट्स के निम्न लेख में भी देखा जा सकता है:

https://thenextrecession.files.wordpress.com/2012/07/roberts_michael-a_world_rate_of_profit.pdf

पूंजी का बढ़ता आवयविक संघटन पूंजीवादी व्यवस्था में पूंजीपतियों की आपसी प्रतिस्पर्धा का नतीजा होता है। इसके चलते ही मुनाफे की दर के गिरने की प्रवृत्ति मौजूद होती है। यह प्रवृत्ति इसलिए होती है क्योंकि मुनाफे की दर को निरपेक्ष रूप से गिरने से अतिरिक्त मूल्य के दर में एक सीमा तक होने वाली वृद्धि और मशीनों का अवमूल्यन बस कुछ समय के लिए रोकता है। वित्तीय विनियमन करके पूँजीवादी संकट का समाधान नहीं हो सकता है। एंड्रयू क्लाईमन ने यह भी दिखाया है कि उत्पादन में निवेश के गिरने का एक परिणाम पूंजी का आधिक्य और वित्तीयकरण होता है, न कि इसके उल्टा। यह यहां देखा जा सकता है:

https://academic.oup.com/cje/article-abstract/39/1/67/2875615?redirectedFrom=fulltext)

मास्टरजी और उनके 'ग्रेट टीचर' मुकेश असीम ने यह भी दावा किया है कि आज साम्राज्यवाद में विस्तारित पुनरुत्पादन सम्भव नहीं है क्योंकि आज दुनिया में ऐसा कोई कोना नहीं रह गया है जहां पूंजी न पहुंची हो। ये बौद्धिक बौने यह नहीं समझते कि पूंजी का संकेन्द्रण व केन्द्रीकरण एक *ऑर्गेनिक* प्रक्रिया है, न कि *एग्रीगेटिव* प्रक्रिया जो नये इलाकों के जुड़ने मात्र पर निर्भर करती हो। हम ऊपर इस विचार की दरिद्रता पर सैद्धान्तिक तौर पर विचार कर चुके हैं। अब हम ठोस आंकड़ों से देखेंगे कि यह एक मूर्खतापूर्ण विचार क्यों है। पूरी दुनिया में आज पूंजी के संकेन्द्रण और केन्द्रीकरण की प्रक्रिया

जारी है, जिसे आप कुल मूल्य निर्माण और साथ ही *मर्जर* व *एक्विजिशन* के आंकड़ों में देख सकते हैं। **कुल मूल्य निर्माण में बढ़ोत्तरी पूंजी के संकेन्द्रण (concentration), विस्तारित पुनरुत्पादन और पूंजी संचय को प्रदर्शित करती है, जबकि *मर्जर* व *एक्विजिशन* पूंजी के केन्द्रीकरण (centralization) और इसलिए श्रम व उत्पादन के बढ़ते समाजीकरण को दिखलाता है।** विश्व के लिए ग्रॉस वैल्यू एडिशन के आंकड़ें इस प्रकार हैं:

वर्ष	**ग्रॉस वैल्यू एडिशन (डॉलर)**
1970	3.036 Trillion
1980	11.62 Trillion
1990	23.291
2000	34.023
2010	61.463
2018	73.802

https://data.worldbank.org/indicator/NY.GDP.FCST.CD

उपरोक्त आंकड़े मोटे तौर पर विस्तारित पुनरुत्पादन को प्रतिबिम्बित करते हैं। कुल अचल पूंजी निर्माण में बढ़ोत्तरी के आंकड़े और ज़्यादा सटीकता के साथ विस्तारित पुनरुत्पादन व पूंजी संचय को दिखलतो हैं। अचल पूंजी निर्माण के आंकड़ें निम्न हैं:

वर्ष	**ग्रॉस फिक्स्ड कैपिटल फॉर्मेशन (Trillion Dollars, Current US $)**
1970	0.734
1980	2.988
1990	5.639
2000	7.927
2010	15.406
2019	22.341

स्रोत: https://data.worldbank.org/indicator/NE.GDI.FTOT.CD

यहां यह स्पष्ट करना भी ज़रूरी है कि समूचा सेवा क्षेत्र अनुत्पादक पूंजी निवेश नहीं होता है, मसलन, परिवहन सेवा क्षेत्र में आता है, लेकिन वह एक पूंजीवादी माल उत्पादन ही है, जैसा कि मार्क्स ने 'पूंजी' के खण्ड 1 में बताया है। इसी प्रकार अन्य कई सेवाएं हैं, जो कि पूंजीवादी माल उत्पादन की श्रेणी में ही आती हैं, हालांकि इन मालों को छुआ या देखा नहीं जा सकता और वे intangible commodities की श्रेणी में आती हैं। कुछ अन्य सेवाएं, मसलन, वित्तीय सेवा प्रदाता आदि, उत्पादक पूंजी निवेश की श्रेणी में नहीं आएंगे। यहां याद दिला देना चाहिए कि 'उत्पादक' व 'अनुत्पादक' होने के भी मार्क्स के लिए दो अर्थ हैं: एक, पूंजी के उत्पादक श्रम वह श्रम है जो बेशी मूल्य पैदा करता हो, चाहे वह समाज की कुल समृद्धि व सम्पदा में वृद्धि लाए या न लाए; दो, समाज के लिए अपने आप में उपयोगी व उत्पादक श्रम; इनमें ऐसा श्रम भी आ सकता है, जो कि पूंजी के लिए उत्पादक

न हो, यानी मुनाफा न देता हो। इस अवधारणा को विस्तार से समझने के लिए मार्क्स की 'थियरीज़ ऑफ सरप्लस वैल्यू' देखें। बहरहाल, यदि हम हर प्रकार की सेवा को घटाकर केवल मैन्युफैक्चरिंग के आंकड़े भी देखें, तो पूंजी संचय और विस्तारित पुनरुत्पादन की जारी प्रक्रिया को स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है।

केवल मैन्युफैक्चरिंग में पूंजी संचय व विस्तारित पुनरुत्पादन के आंकड़े निम्न हैं:

वर्ष	**मैन्युफैक्चरिंग, वैल्यु ऐडेड (current US$)**
1997	5.955
2000	6.129
2005	7.755
2010	10.537
2015	12.183
2018	13.945

स्रोत: https://data.worldbank.org/indicator/NV.IND.MANF.CD

अब पूंजी के केन्द्रीकरण के आंकड़े भी देख लेते हैं, जो कि संकेन्द्रण को बढ़ावा तो देते ही हैं, साथ ही श्रम और उत्पादन के पहले से अधिक ऊंचे स्तर पर समाजीकरण को प्रदर्शित करते हैं और दिखलाते हैं कि पूंजीवाद साम्राज्यवाद के मौजूदा दौर में स्थैतिक नहीं हो गया है, बल्कि उत्पादन और श्रम के समाजीकरण और और अधिक बढ़ाकर समाजवाद की आर्थिक पूर्वशर्तों को तैयार करने की अपनी भूमिका अभी भी निभा रहा है।

मर्जर और *एक्विजिशन* के आंकड़ें निम्न तालिका में देखें जा सकते हैं:

Number of net cross-border M&As of purchaser, 1990-2018

1990	2094
1995	3427
2000	6497
2005	5206
2010	5562
2015	6364
2018	6821

स्रोत: https://worldinvestmentreport.unctad.org/annex-tables/

https://www.oecd.org/coronavirus/policy-responses/foreign-direct-investment-flows-in-the-time-of-covid-19-a2fa20c4/

यानी दुनिया में कुल पूंजी का परिमाण एक दीर्घकालिक रुझान के रूप में बढ़ रहा है। दूसरी तरफ़ *मर्जर* और *एक्विजिशन* के आंकड़े बढ़ते केन्द्रीकरण

को दर्शाते हैं। वास्तव में, संकट की एक अभिव्यक्ति यह भी है। पूंजीवाद स्थैतिक नहीं रह सकता। वह फैलेगा या समाप्त होगा। जब पूंजी का अधिक्य मुनाफे की गिरती दर के संकट के कारण सन्तृप्ति पर पहुंचता है, तो मन्दी पैदा होती है। यह मन्दी उत्पादक शक्तियों के विनाश की ओर ले जाती है, छोटे या बड़े युद्धों को जन्म देती है, पर्यावरणीय विनाश को जन्म देती है, बेरोज़गारी को बढ़ाकर औसत मज़दूरी को घटाती है और *काउण्टर* को *रीसेट* करती है, यानी मुनाफे की दर को वापस स्वस्थ स्तर पर *रीस्टोर* करती है। कभी यह कार्य छोटे काल में होता है, तो कभी बड़े कालखण्ड में। मार्क्स बताते हैं कि पूंजीवाद के लिए संकट एक शुद्धि की प्रक्रिया भी है, जब अतार्किक आधिक्य समाप्त होता है, ताकि नये अतार्किक आधिक्य की तैयारी शुरू हो सके। परन्तु मास्टरजी बताते हैं कि आज पूंजीवाद में विस्तरित पुनरुत्पादन नहीं हो सकता है। यानी उनके अनुसार पूंजी का संकेन्द्रण अब सम्भव नहीं है। लेकिन आंकडें *माटसाब* के अहमकपन का मखौल बनाते हुए दूसरी तस्वीर पेश कर रहे हैं और मार्क्स की निम्न उक्ति को सही साबित कर रहे हैं:

"The bourgeoisie *cannot exist without constantly revolutionising the instruments of production*, and thereby the relations of production, and with them the whole relations of society. Conservation of the old modes of production in unaltered form, was, on the contrary, the first condition of existence for all earlier industrial classes. *Constant revolutionising of production, uninterrupted disturbance of all social conditions, everlasting uncertainty and agitation distinguish the bourgeois epoch from all earlier ones."* (Marx, Engels. **The Communist Manifesto,** *emphasis ours*)

लेकिन मास्टरजी के अनुसार मार्क्स की उपरोक्त बात साम्राज्यवाद के युग में लागू नहीं होती, क्योंकि शायद उनके अनुसार साम्राज्यवाद का युग बुर्जुआ युग नहीं है! ऐसे मूर्खों को मार्क्सवाद के विषय में कैसे समझाया जाय, यह अपने आप में एक शोध का विषय बन सकता है। साम्राज्यवाद नया युग क्यों है? क्योंकि पूंजी द्वारा राष्ट्रीय सीमाओं का अतिक्रमण कर निर्यात होना और सुदूर देशों में निवेशित होना अब एक प्रमुख रुझान बन गया है; यह नया युग इसलिए है क्योंकि इस परिवर्तन के साथ सर्वहारा क्रान्ति की रणनीति और आम रणकौशल में परिवर्तन आता है और विश्व पूंजीवाद की 'कमज़ोर कड़ियां' क्रान्ति के झंझा केन्द्र बन जाती हैं। यह नया युग इसलिए नहीं है कि इसमें पूंजी का आन्तरिक अन्तरविरोध और उसकी गति के नियम ही बदल जाते हैं। साम्राज्यवाद का ऐसा कोई सिद्धान्त कम-से-कम लेनिन ने तो नहीं दिया था। **इस प्रकार की बेऔक़ात गुस्ताख़ी पटना के बौद्धिक बौने जैसा कोई व्यक्ति ही कर सकता है, जिसकी चेतना का क्षितिज अपने कोचिंग सेण्टर की बच्चा पार्टी की दर्शक दीर्घा से आगे नहीं जाता है। ऐसे कई मास्टर अपने कोचिंग सेण्टरों में मार्क्स की 'पूंजी' खण्ड 1 के आगे जाने की मेढक-योजनाएं बनाते रहते हैं। उन पर केवल हंसा ही जा सकता है।**

लुब्बेलुबाब यह कि मास्टरजी और उनके गुरू जी की दलीलें खोखली हैं। असल में मास्टरजी कुलकों और पूंजीवादी फार्मरों के साथ ही सहानुभूति करते हैं और उनके ट्रिब्यूट को बचाए रखने के लिए जारी आंदोलन में कूद पड़ते हैं। वह इजारेदार पूंजी के कृषि में प्रवेश को ऐसे पेश करते हैं मानो उसके प्रवेश के बाद उत्पादक शक्तियों का विकास, पूंजी संचय व विस्तारित पुनरुत्पादन पूर्णत: रुक जाएगा और मानो कुलकों-धनी किसानों के आर्थिक वर्चस्व में हो रही खेती बड़ी प्रगतिशील थी! **मगर असल में यह सारी बौद्धिक कलाबाजियां कुलकों-धनी किसानों के पाजामे का नाड़ा बनने की जल्दबाज़ी से पैदा हो रही हैं। हमने मूल लेख में आंकड़ों समेत दिखलाया है कि भारतीय खेती में 1977-78 में अतिउत्पादन की मंजिल आ चुकी थी, जब भारत अपने खाद्यान्न रिज़र्व को सुरक्षित करने के साथ खाद्यान्न का शुद्ध निर्यातक बन गया था। उसके बाद या कहें विशेष तौर पर उसके बाद ही भारतीय खेती में सबसे तेज़ी से मशीनीकरण, पूंजी संचय और विस्तारित पुनरुत्पादन हुआ है। इसके आंकड़ों के लिए मौजूदा परिशिष्ट के मूल लेख को देखें। यानी, *माटसाब* उत्तरी ध्रुव पर हैं और आंकड़े और सच्चाइयां दक्षिणी ध्रुव पर।**

दूसरी बात, हमने पहले ही कहा था कि पटना के दोन किहोते भारत के कोचिंग सेण्टरों में पाए जाने वाल ठस दिमागों में से है जिसके दिमाग के कबूतरखाने में केवल कुछ उल्ट-पुल्ट सूत्र घुसे हैं और जो मार्क्सवाद को एक विश्व-दृष्टिकोण और पद्धति की तरह नहीं समझते हैं। वह पहले तो मार्क्स की 'पूंजी' के तीन खण्डों को चीन की दीवार से बांटते हैं और बताते हैं कि 'पूंजी' के पहले खण्ड का दौर बीत गया है। मार्क्स की 'पूंजी' एक एकीकृत ग्रन्थ है। 'पूंजी' का मकसद मार्क्स ने ही खुद स्पष्ट किया था:

“It is the ultimate aim of this work to lay bare the economic laws of motion of modern society, i.e., capitalist,

bourgeois society." (Marx)

यह न सिर्फ पूंजीवादी समाज के आर्थिक गति के नियम को परिभाषित करता है बल्कि सम्पूर्ण मानवीय समाज को भी समझने में मदद करता है। मार्क्स की शिक्षा और मार्क्स की समूची 'पूंजी' की शिक्षा आज के युग में और अधिक प्रासंगिक है। पहले खण्ड में मार्क्स माल से शुरू कर मुद्रा और पूंजी की अवधारणाओं को समझाते हैं, उत्पादन की प्रक्रिया व पूंजी के संचय को *पूंजीवाद के आम नियम के तौर पर* समझाते हैं। मार्क्स इस खण्ड में वैयक्तिक पूंजी (individual capital) के स्तर पर पूंजी द्वारा बेशी मूल्य के उत्पादन और बेशी मूल्य द्वारा पूंजी के बनने की प्रक्रिया, पूंजी संचय, विस्तारित पुनरुत्पादन, मज़दूरी के आम नियम, पूंजीवादी फार्मर के पैदा होनेकी प्रक्रिया आदि को व्याख्यायित करते हैं। यहां मार्क्स पूंजियों की आपसी प्रतिस्पर्द्धा, मुनाफे के औसतीकरण, समाज में समूची सामाजिक पूंजी के पुनरुत्पादन, आदि और उनसे पैदा होने वाले *डिस्टर्बेंसेज़* से अपने आपको अलग (abstract) करते हैं, ताकि माल, पूंजी, बेशी मूल्य की अवधारणाओं को सही तरीके से समझा जा सके, हालांकि ये सभी *डिस्टर्बेंस* कुल सामाजिक स्तर पर एक-दूसरे को रद्द करते हैं। मार्क्स खुद ही बताते हैं कि कुल सामाजिक स्तर पर पूंजियों की अन्तर्क्रिया से वह पहले अपने आपको abstract करते हैं और आगे के खण्डों में उस पर विचार करेंगे। दूसरे खण्ड में मार्क्स सामाजिक स्तर पर कुल पूंजी के पुनरुत्पादन को समझाते हैं। तीसरे खण्ड में मार्क्स मुनाफे के औसतीकरण की प्रक्रिया को, मुनाफे की दर के गिरने की प्रवृत्ति को और ब्याज व पूंजीवादी भूमि लगान की अवधारणा को समझाते हैं। 'पूंजी' के खण्ड-2 और खण्ड-3 को 'पूंजी' खण्ड-1 के बिना नहीं समझा जा सकता है। **इसलिए 'पूंजी' के खण्ड-1 को आगे के खण्डों से अलग युग या बीते युग का बताना यह दिखलाता है कि *माटसाब* खुद बीते युग की महामूर्खता का एक जीवाश्म हैं।**

साथ ही स्पष्ट है कि *माटसाब* को 'पूंजी' के लेखन के पूरे इतिहास के बारे में भी नहीं पता है। उन्हें लगता है कि खण्ड-2 व खण्ड-3 को जिन पाण्डुलिपियों से तैयार किया गया, वे सभी खण्ड-1 के प्रकाशन के बाद की पाण्डुलिपियां हैं। लेकिन सच यह है कि खण्ड-2 और खण्ड-3 को जिन पाण्डुलिपियों से कम्पाइल और सम्पादित करने का शानदार काम एंगेल्स ने किया था, उनमें से कई सितम्बर 1867 से पहले की पाण्डुलिपियां हैं, जब कि 'पूंजी' का पहला खण्ड मार्क्स के अन्तिम सम्पादन के बाद प्रकाशित हुआ था, क्योंकि अध्ययन और जांच उसी क्रम में नहीं होती है, जिस क्रम में शोध की प्रस्तुति होती है, जैसा कि मार्क्स ने पूंजी में स्वयं ही बताया है। *माटसाब* को 'पूंजी' के लिखे जाने के इतिहास पर मौजूद कुछ अच्छी पुस्तकें पढ़ लेनी चाहिए ताकि भविष्य में ऐसी चुगदपने की बातें न करें। कई ऐसी पुस्तकें मौजूद हैं, मसलन, रोमन रोस्दोल्स्की की पुस्तक 'दि मेकिंग ऑफ मार्क्सेज़ कैपिटल'।

आखिरी बात यह समझने की है कि साम्राज्यवाद को जब लेनिन परजीवी और पतनशील कहते हैं तो उनका अर्थ यह नहीं है कि इस मंजिल में उत्पादक शक्तियों का विकास निरपेक्षत: असम्भव हो चुका है। लेनिन साम्राज्यवाद के दौर को परजीवी बताने के बाद भी कहते हैं कि यह समझना ग़लत है कि इजारेदार पूंजी के दौर में पूंजीवाद का विकास नहीं हो सकता है।

"Monopolies, oligarchy, the striving for domination and not for freedom, the exploitation of an increasing number of small or weak nations by a handful of the richest or most powerful nations—all these have given birth to those distinctive characteristics of imperialism which compel us to define it as parasitic or decaying capitalism. More and more prominently there emerges, as one of the tendencies of imperialism, the creation of the "rentier state", the usurer state, in which the bourgeoisie to an ever-increasing degree lives on the proceeds of capital exports and by "clipping coupons". **It would be a mistake to believe that this tendency to decay precludes the rapid growth of capitalism. It does not. In the epoch of imperialism, certain branches of industry, certain strata of the bourgeoisie and certain countries betray, to a greater or lesser degree, now one and now another of these tendencies. On the whole, capitalism is growing far more rapidly than before; but this growth is not only becoming more and more uneven in general, its unevenness also manifests itself, in particular, in the decay of the countries which are richest in capital (Britain)."** (Lenin, **Imperialism, the highest stage of capitalism,** *emphasis ours*)

लेनिन यह कहते हैं कि साम्राज्यवाद एक पतनशील और परजीवी व्यवस्था है तो इसका यह अर्थ नहीं होता है कि अब उसमें उत्पादक शक्तियों का

विकास, विस्तारित पुनरुत्पादन व पूंजी संचय निरपेक्ष रूप से थम जाता है। **इसका परजीवीपन और पतनशीलता समाजवादी व्यवस्था के सापेक्ष होती है, छोटे पूंजीपति वर्ग व टुटपुंजिया उत्पादन के सापेक्ष नहीं।** यानी सामाजिक हो चुके उत्पादन की क्षमता के अनुरूप यह सापेक्षिक तौर पर स्थैतिक है क्योंकि निजी विनियोजन की व्यवस्था अब उत्पादक शक्तियों के विकास को बाधित करती है, उसे निर्बन्ध नहीं करती। यह परजीवी और पतनशील इसलिए ही है कि यह समाजवादी क्रान्ति की पूर्वबेला है। इसका अर्थ यह नहीं है कि यह टुटपुंजिया उत्पादन, छोटे पूंजीपति वर्ग, छोटे पैमाने के उत्पादन आदि के सापेक्ष प्रतिगामी है। उनके सापेक्ष तो यह अब भी ऐतिहासिक तौर पर प्रगतिशील ही है। पूर्ण ठहराव का यह सिद्धान्त पूर्ण इजारेदारीकरण के काऊत्स्कीपंथी सिद्धान्त से पैदा होता है, जिस सम्भावना को मार्क्स व लेनिन दोनों ने ही नकारा था। इजारेदारी प्रतिस्पर्द्धा का निषेध नहीं बल्कि उसका गहराना और तीखा होना होता है और जब तक प्रतिस्पर्द्धा मौजूदा होती है, तब तक पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के दायरे में ही उत्पादक शक्तियों का परिमाणात्मक विकास भी जारी रहता है, विस्तारित पुनरुत्पादन और पूंजी संचय भी जारी रहता है । इसके बिना पूंजीवाद की कल्पना सम्भव ही नहीं है। **समाजवादी व्यवस्था के सापेक्ष साम्राज्यवाद के परजीवी और पतनशील होने का यह अर्थ निकालना कि पूंजीवाद में अब विस्तारित पुनरुत्पादन ही सम्भव नहीं, इजारेदार पूंजी के मुकाबले कुलकों-धनी किसानों की पूंजी प्रगतिशील है, निकृष्ट कोटि के टुटपुंजिया अल्पउपभोगवाद के पंककुण्ड में गिरने के समान है।**

मास्टरजी के अनुसार साम्राज्यवाद दुनिया के हर कोने में फैल चुका है और अब उसमें विस्तार की कोई सम्भावना नहीं है। **ये मूर्ख भौगोलिक विस्तार की सीमा को पूंजी के संकेन्द्रण और केन्द्रीकरण पर सीमा मानते हैं।** उत्पादन और श्रम का अधिक से अधिक समाजीकरण पूंजी के संकेन्द्रण और केन्द्रीकरण के कारण होता है। यदि साम्राज्यवाद विश्व के हर कोने-अंतरे में पहुंच जाए तो क्या पूंजी का संकेन्द्रण और केन्द्रीकरण रुक जाता है? नहीं! क्या पूंजी संचय रुक जाता है? नहीं! हम ऊपर भी इस भोण्डे अल्पउपभोवादी तर्क का विस्तारपूर्वक खण्डन कर चुके हैं।

यह है हमारे पटना के दोन किहोते की साम्राज्यवाद और आर्थिक संकट की समझदारी! धनी किसानों और कुलकों की पूंछ पकड़ने के लिए मास्टरजी कुतर्कों और झूठों का अम्बार लगाते जा रहे हैं और अपने उस अम्बार के तले दबते भी जा रहे हैं क्योंकि अपनी हर मूर्खता, कुतर्क और लफ्फाज़ी को अपनी बच्चा पार्टी के सामने छिपाने के लिए उन्हें लगातार नयी-नयी मूर्खताएं, कुतर्क और लफ्फजियां पेश करनी पड़ रही हैं।

लफ्फाजी करने में हमारे मास्टरजी को विशेष महारत हासिल है। वह धनी किसानों की पूंछ पकड़ते हैं और बताते हैं कि यह क्रान्तिकारी कदम है। न सिर्फ वह इसे क्रान्तिकारी कदम बताते है बल्कि कहते हैं कि इस आंदोलन में एकमात्र क्रान्तिकारी नारा 'सर्वहारा राज्य का हस्तक्षेप' है। यानी मास्टरजी एक प्रतिक्रियावादी वर्ग के आंदोलन में घुसना चाहते हैं और ऊपर से इसमें जाकर सीधे क्रान्ति का आह्वान करने को वह एकमात्र नारा मानते हैं! लेकिन यह हस्तक्षेप वह लाभकारी मूल्य की जनविरोधी मांग के लिए करते हैं। वह अपने टुटपुंजिया अवसरवाद को क्रान्तिकारी लफ्फाजी के पीछे छिपाना चाहते हैं। उनकी आलोचना होने पर वह हमसे पूछते हैं कि क्या इतनी क्रान्तिकारी बातें कोई संशोधनवादी कर सकता है!? **परन्तु असल में वह क्रान्तिकारी लफ्फाजी करते हुए ग्रामीण पूंजीपति वर्ग की गोद में जाकर बैठ जाते हैं। वह इस बात की रट लगाते हैं कि आज एकमात्र रास्ता समाजवाद है और धनी किसानों को समाजवाद में सहयोगी बनाने के लिए ही वे 'उचित दाम' (असल में, लाभकारी मूल्य) का दाना डालते हैं। अगर कोई महज़ 'क्रान्ति' और 'सर्वहारा वर्ग के राज्य' शब्द बोलकर क्रान्तिकारी हो जाता तो हर निठल्ले फेसबुकिए को इन्हें अपने संगठन में जोड़ लेना चाहिए। वैसे ऐसे ही निठल्ले पर्याप्त संख्या में इनके ''संगठन'' में शामिल हैं। आजकल इसी प्रकार के पैस्सिव रैडिकल कुर्सीतोड़ सोशल मीडिया के ''वामपंथी'' पत्रकार महोदय की सैद्धान्तिक जुगाली की ''चप-चप'' इन्हें शास्त्रीय संगीत के समान मधुर प्रतीत हो रही है! लेनिन ने ऐसे ही ''क्रान्तिकारी'' लफ्फाजों का मज़ाक उड़ाते हुए कहा था कि:**

"Obviously, if you write the words Revolution and Uprising with capital letters it makes the thing look “awfully” frightening, just like the Jacobins. Plenty of effect at small expense. For the people who write this are virtually helping to crush the revolution and impede the uprising of the working people by supporting the *Russian* government of the imperialists, by supporting *their* methods of concealing from the people the secret treaties, *their* tactics of putting off the immediate abolition of the landed estates, by supporting *their* war policy of “offensive”, *their* high-handed

insulting behaviour towards the local representative bodies, *their* presumption to appoint or endorse the local officers elected by the local population, and so on *ad infinitum.*

"Gentlemen, heroes of the phrase, knights of revolutionary bombast! Socialism demands that we distinguish between capitalist democracy and proletarian democracy, between bourgeois revolution and proletarian revolution, between a rising of the rich against the tsar and a rising of the working people *against the rich."* (Lenin, **The harm of phrase mongering**)

क्रान्तिकारी लफ्फाजों की तरह ही मास्टरजी अमीर किसानों और बड़ी इजारेदार पूंजी की लड़ाई में और मेहनतकश अवाम की पूंजीपति वर्ग के खिलाफ़ लड़ाई के भेद को मिटाने की कोशिश करते हैं।

5. पूंजीवादी राज्य और पूंजीपति वर्ग के रिश्तों पर मास्टरजी की "समझदारी"

मास्टरजी पूंजीवादी राज्य और पूंजीपति वर्ग के बीच के रिश्तों की कोई मार्क्सवादी समझदारी नहीं रखते हैं। वह इजारेदार पूंजीपति वर्ग, पूंजीवादी राज्य और सरकार को समानार्थी के तौर पर प्रयोग करते हैं। कृषि के क्षेत्र में इजारेदार पूंजी की दख़लन्दाज़ी और फासीवादी सरकार के बीच रिश्तों से लेकर चुनाव में पूंजीपति वर्ग की पार्टियों के लड़ने और पूंजीपति वर्ग के अलग-अलग धड़ों के बीच संघर्ष तक वह एक बेहद यांत्रिक समझदारी पेश करते हैं, जो नुक्कड़-चौराहों पर उद्वेलनात्मक भाषण देते हुए नये युवा कार्यकर्ता अक्सर रखा करते हैं। यही समझदारी उनके द्वारा बंगाल चुनाव पर जारी पर्चे में भी देखी जा सकती है। उनके पर्चे की शुरुआत इससे होती है कि असल में चुनाव 'कॉरपोरेट' लड़ रहा है और यह करते हुए वे टीएमसी के अप्रत्यक्ष समर्थन तक पहुंच जाते हैं। मार्क्सवाद का इमला जानने वाला व्यक्ति भी समझ सकता है कि यह कैसी बचकानी समझदारी है।

कारपोरेट पूंजी या पूंजीपति वर्ग का कोई धड़ा सीधे चुनाव नहीं लड़ता है; वास्तव में, पूंजीपति वर्ग के अलग-अलग धड़े कई बुर्जुआ पार्टियों को सहयोग करते हैं, ताकि सरकार किसी की भी बने, उनके हित पूर्ण हों। क्या कोई दावा करेगा कि ममता बनर्जी कारपोरेट पूंजी की विरोधी है? या क्या कोई भी बुनियादी राजनीतिक समझदारी रखने वाला व्यक्ति भी आज यह दावा करेगा कि कांग्रेस या सपा-बसपा कारपोरेट पूंजीपति वर्ग की विरोधी पार्टियां हैं? यह दीगर बात है कि पूंजीपति वर्ग के अलग-अलग धड़े अलग-अलग समय पर पर *मुख्य तौर पर* किसी एक पार्टी को ज़्यादा सहयोग देते हैं। यदि आप आखिरी लोकसभा चुनावों में सभी पार्टियों को मिलने वाले फण्ड को देखें, तो पाएंगे कि बड़े पूंजीपति वर्ग ने निश्चित तौर पर आज के संकटकाल में एक फासीवादी पार्टी को ज़्यादा और एकजुट होकर सहयोग दिये हैं, लेकिन इन्हीं इजारेदार घरानों ने कांग्रेस और यहां तक कि आम आदमी पार्टी को भी फण्ड दिये हैं। पूंजीपति वर्ग के तमाम धड़े अपनी विभिन्न पार्टियों को अलग-अलग समय पर अलग-अलग पार्टियों को सहयोग व समर्थन देते हैं, लेकिन वे सीधे चुनाव नहीं लड़ रहे होते। यह वर्ग और पार्टी के बीच के सम्बन्ध को न समझने के समान है। **यदि पश्चिम बंगाल में भाजपा के रूप में कारपोरेट पूंजी चुनाव लड़ रही थी, तो वह किसके खिलाफ़ चुनाव लड़ रही थी? ममता बनर्जी, कांग्रेस आदि किसका प्रतिनिधित्व कर रहे थे? क्या वे मज़दूर वर्ग या मध्यवर्ग का प्रतिनिधित्व कर रहे थे? नहीं!** वे भी बड़े पूंजीपति वर्ग और साथ में एक हद तक मंझोले व छोटे पूंजीपति वर्ग की नुमाइन्दगी कर रहे थे, लेकिन आज के समय में कारपोरेट पूंजीपति वर्ग की पहली पसन्द वे नहीं हैं, हालांकि वह इन पार्टियों को भी फण्ड व सहयोग देता है। पूंजीपति वर्ग के कौन से धड़े मुख्य तौर पर किस या किन पार्टियों को समर्थन देंगे, यह इस पर निर्भर करता है कि समूची पूंजीवादी अर्थव्यवस्था, समाज में राजनीतिक वर्ग शक्ति सन्तुलन की स्थिति क्या है और विभिन्न बुर्जुआ व पेटी-बुर्जुआ पार्टियों के नेतृत्व व नीतियां क्या हैं। वर्ग, पार्टी और राज्यसत्ता के बीच रिश्तों की समझदारी मार्क्स से लेकर माओ तक मार्क्सवादी राजनीति का एक अहम अंग है, लेकिन *माटसाब* को इसके विषय में कुछ नहीं पता है।

माटसाब कृषि में बड़ी इजारेदार पूंजी के प्रवेश को और राज्य द्वारा तय होने वाली नीतियों को ऐसे पेश करते हैं मानो इजारेदार पूंजी आर्थिकेतर उत्पीड़न पर आधारित कोई सामन्ती शक्ति हो। यह पूरी तरह मार्क्सवादी समझदारी का मखौल है। मार्क्स बताते हैं कि यह प्रतिस्पर्द्धा के ज़रिये मुनाफे की दर का औसतीकरण (averaging of the rate of profit) है जिसके ज़रिये पूंजीपति वर्ग एक वर्ग के रूप में संघटित (constitute) होता है। इस प्रतिस्पर्द्धा का एक ओर तो यह अर्थ होता है कि पूंजीपति वर्ग श्रमशक्ति की लूट के समान अवसर चाहता है, और यही पूंजीपति वर्ग के विभिन्न गुटों के बीच खींच-तान का कारण बनता है और वहीं दूसरी ओर इसका यह अर्थ भी होता है कि मौका मिलने पर एक पूंजीपति दूसरे पूंजीपति की गर्दन पर उस्तरा फेरने, उसे निगल जाने से भी बाज़ नहीं आता हैं। पूंजीपति वर्ग के अलग-अलग धड़े आपस में

प्रतिस्पर्द्धारत होते हैं और हर धड़े के भीतर भी अलग-अलग पूंजीपति आपस में प्रतिस्पर्द्धारत होते हैं। इस प्रतिस्पर्द्धा के लिए कुछ औपचारिक नियम आवश्यक होते हैं, जिसके लिए राज्यसत्ता की आवश्यकता होती है; साथ ही, सर्वहारा वर्ग के विरुद्ध ये सारे धड़े संगठित और एकजुट होते हैं। राज्यसत्ता समूचे पूंजीपति वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करती है। पूंजीवादी राज्यसत्ता का काम ही होता है पूंजीपति वर्ग के हितों का सामूहिकीकरण करना और उनको जनता के समक्ष "राष्ट्रीय हित" के रूप में पेश करना। पूंजीवादी राज्य अकसर पूंजीपतियों के अलग-अलग धड़ों के या वैयक्तिक पूंजीपतियों के हितों या इच्छाओं के विपरीत जाकर भी निर्णय लेता है, ताकि सामूहिक पूंजीवादी हितों की पूर्ति की जा सके। फासीवादी राज्यसत्ता और कहना चाहिए कि आधुनिक पूंजीवाद के समूचे ऐतिहासिक युग में हरेक राज्यसत्ता मुख्य तौर पर बड़े इजारेदार पूंजीपति वर्ग का ही प्रतिनिधित्व करती है, लेकिन वह समूचे पूंजीपति वर्ग के वर्ग हितों के सामूहिकीकरण का भी काम करती है। इसे पूर्णत: कारपोरेट घरानों यानी इजारेदार पूंजीपतियों के दलाल या एजेण्ट के रूप में पेश करना मार्क्सवादी समझदारी नहीं है और राजनीति व राज्यसत्ता के सापेक्षिक स्वायत्ता के मार्क्सवादी सिद्धान्त को समझने में पूर्ण अक्षमता के समान है। मार्क्स ने 'फ्रांस में वर्ग संघर्ष' में इस नज़रिये पर अपनी राय स्पष्ट करते हुए कहा है:

"Now only begins the regulation play of the constitutional institutions, which Guizot so very much admired—the quarrel between the executive and the legislative authority. As against the restorational desires of the united Orleanists and Legitimists, Bonaparte represents the title of his de facto power, the republic; as against the restorational desires of Bonaparte, the party of order represents the title of its joint rule, the republic; as against the Orleanists, the Legitimists, and as against the Legitimists, the Orleanists, represent the status quo, the republic. All these factions of the party of order, each one of which has in reserve its own king and its own restoration, mutually assert, as against the usurpational and restorational desires of their rivals, **the joint rule of the bourgeoisie, the form within which all the special claims are neutralized and deferred**—the republic. (Marx, **Class struggle in France 1848**)

निकोस पूलान्तज़ास ने भी इस मुद्दे पर तो सही मार्क्सवादी अवस्थिति को ही पेश किया है:

"When Marx designated Bonapartism as the 'religion of the bourgeoisie', in other words as characteristic of all forms of the capitalist State, he showed that this State can only truly serve the ruling class in so far as ***it is relatively autonomous from the diverse fractions of this class***, precisely in order to be able to organize the hegemony of the whole of this class." (Nicos Poulantzas, **The Problem of Capitalist State**)

राज्य पूंजीपति वर्ग के अलग-अलग धड़ों के हितों की नहीं समूची पूंजीवादी व्यवस्था के दूरगामी हितों को देखकर शासक वर्ग के वैयक्तिक तत्वों के खिलाफ़ भी कार्रवाई कर सकता है। परन्तु मास्टरजी अपने लेखों में इन फर्कों को मिटाने पर तुले हैं, और मोदी सरकार और बड़े इजारेदार पूंजीपति वर्ग के बीच एक पूर्ण अतिच्छादन पैदा कर देते हैं। पिछले वर्ष पूर्ण लॉकडाउन का निर्णय भी मोदी सरकार ने बड़े पूंजीपति वर्ग के कई धड़ों की इच्छा के विपरीत लिया था। इस बार कई राज्यों में आंशिक लॉकडाउन पर मारुति सुजुकी के चेयरमैन आर.सी. भार्गव समेत कई बड़े पूंजीपति घराने के प्रतिनिधियों ने स्पष्ट बयान दिया कि सरकार की यह कार्रवाई ग़लत है और आर्थिक तौर पर नुकसान पहुंचाएगी। लेकिन सरकार समूचे वर्ग और उसके शासन के दूरगामी हितों के बारे में सोचती है और राज्यसत्ता इस काम को और भी ज़्यादा दूरदर्शिता से करती है। **लेकिन *माटसाब* के चण्डूखाने में ये सारे फर्क मूर्खता की सड़ी मलाई में मिलकर समाप्त हो जाते हैं।**

6. रूसी क्रान्ति और आज के भारत की तुलना कर बात बदलने पर अमादा मास्टरजी

आगे मास्टरजी चिर-परिचित अंदाज में अहंकारपूर्ण लफ्फाजी दिखाते हुए कहते हैं कि हमने रूसी क्रान्ति के बारे में पेश मूल्यांकन में उनके मुंह में शब्द ठूंसे हैं। वह हमें उद्धृत करते हुए कहते हैं:

" "लेखक महोदय निम्न कोटि के अवसरवाद से ग्रस्त अपने तर्क को ऐतिहासिक वैधता प्रदान करने के लिए भारत की मौजूदा स्थिति की तुलना प्रारम्भिक बीसवीं शताब्दी के रूस से करते हैं।"

"ये तो चमत्कार हो गया। मुझे खुद ही पता नहीं है कि ऐसा मैने कब और कहां किया है।" (कॉर्पोरेट को लाल सलाम कहने की बेताबी में शोर मचाती 'महान मार्क्सवादी

चिंतक' और 'पूंजी के अध्येता' की 'मार्क्सवादी मंडली' का घोर राजनैतिक पतन [2], यथार्थ अंक 12)

मूर्ख लोग अकसर बहुत जल्दी ही चमत्कृत हो जात हैं। यहां चमत्कृत होने जैसी कोई बात नहीं है।

दूसरी बात, लगातार झूठ बोलने वाले लोग भूल भी जाते हैं कि उन्होंने कब-कब, कहां-कहां कौन-कौन से झूठ बोले हैं। *माटसाब* यहां मूर्खतावश चकित हिरणी के समान चमत्कृत हो गये हैं, या वह पुराने बोले गये झूठों को भूल गये हैं, इस विषय पर शोध करने का कार्य हम सांचो पांजाओं की बच्चा पार्टी पर छोड़ देते हैं। जो भी मामला हो, हम यहां सच्चाइयों को पेश कर देते हैं। *माटसाब* ने यथार्थ के 11वें अंक में अपने लेख में यह लिखा था, इसे ग़ौर से पढ़ें:

"एक सदी पहले रूसी कुलकों के अस्तित्व पर पूंजीवादी कृषि के किसी उच्चतर मंजिल या स्टेज के कारण कोई ऐसा खतरा पैदा नहीं हुआ था जैसा कि आज भारत में हो रहा है। रूसी कुलकों के समक्ष कोई कॉर्पोरेट खतरा नहीं आ खड़ा हुआ था। उन्हें जो खतरा था वह सोवियत सत्ता से था और उनका चरित्र एकमात्र इसी बात से निर्धारित हो सकता था।"

"जो महान क्रांतिकारी लोग आज के धनी किसानों को, जो गरीब व मध्य किसानो के साथ ना सिर्फ शोषणकारी रिश्तों से बल्कि अन्य तरह के गहरे सामाजिक संबंधों से भी गहराई से जुड़े हैं, रूस के सौ साल पहले के कुलकों से तुलना कर रहे हैं जिनके पास कॉर्पोरेटीकरण का कोई कड़वा अनुभव नहीं था, इन लोगों को स्थाई और ढांचागत संकट में फंसा मौजूदा पूंजीवाद नहीं दिखता है जिसमें हर दरमियानी तबका अपने अस्तित्व के ऊपर मंडराते खतरे को महसूस कर रहा तथा झेल रहा है।"

पहली बात तो यह है कि उपरोक्त कथन ऐतिहासिक और राजनीतिक दोनों ही तौर पर निहायत मूर्खतापूर्ण है। लेकिन यहां आप देख सकते हैं कि रूस की तत्कालीन स्थिति से भारत की मौजूदा स्थिति की तुलना हमारे पटना के दोन किहोते ने ही की है परन्तु अब इसे झुठला रहे हैं। उन्होंने इस रूप में भी तुलना की है कि वह दावा करते हैं कि रूस में समाजवादी क्रान्ति में कुलक व धनी किसान मित्र वर्ग बने थे, तो अभी भी तो बन सकते हैं! ऐसे बहुत-से उद्धरण यहां पेश किये जा सकते हैं, लेकिन उनका कोई लाभ नहीं होगा, पाठक *बोर* अलग हो जाएंगे।

दरअसल, हमारे पटना के दोन किहोते और उनके सांचो पांज़ा हर दूसरी बात में चमत्कृत हो जाते हैं। यह उनकी आदत है। जब किसी व्यक्ति के पास वैज्ञानिक विश्लेषण करने की क्षमता और हिम्मत न हो तो वह अपनी इस आदत से ही अपनी कमियों को ढक लेता है। फेसबुक पर मास्टरजी कभी खुद पर तो कभी अपने बौद्धिक गुरू मूर्खेश असीम पर चमत्कृत होते रहते हैं। वैसे चमत्कृत होने की आदत में बहकर मास्टरजी अपने झूठ को भी बरकरार नहीं रख पाते हैं। इस लेख में ही इन्होंने कहा है:

"पहली बात, हमने **आम तौर पर रूस में** कॉर्पोरेट पूंजी की दखल की बात नहीं की है, हमने **खास तौर से रूस के कृषि क्षेत्र में** कॉर्पोरेट पूंजी की दखल का सवाल उठाया था।" (वही)

यहां पर भी आप देख सकते हैं कि *माटसाब* अपनी समकालीन मूर्खताओं के कारण तत्कालीन रूस से मौजूदा भारत की अलग-अलग तरीके से तुलनाएं करते रहे हैं। **पहली बात तो यह है कि खेती और पूरे समाज में इजारेदार पूंजी के प्रवेश का बंटवारा भी असल में मास्टरजी के ठूंठ दिमाग की उपज है। यह अधिभूतवाद में पगा दिमाग है जो परिघटनाओं को प्रक्रियाओं को रूप में देखने में अक्षम है। इनके अनुसार रूस में उद्योग में बड़ी इजारेदार पूंजी का प्रवेश हो चुका था परन्तु यह खेती में नहीं पहुंची थी। बड़ी इजारेदार पूंजी का प्रवेश रूस में खेती में भी हो चुका था, आगे हम लेनिन के सन्दर्भ से यह दिखलाएंगे। फिर भी आज के भारत से तत्कालीन रूस का कोई सादृश्य-निरूपण कर पाना असम्भव है।** तत्कालीन रूस और मौजूदा भारत की स्थितियों के अन्तर पर हमने इस परिशिष्ट के मूल लेख में विस्तार से लिखा है। क्रान्ति-पूर्व रूसी खेती में वित्तीय पूंजी की दख़ल को हम आगे दिखाएंगे परन्तु पहले मास्टरजी की कुछ फूहड़ परन्तु बचकानी आदतों पर टिप्पणी करते चलेंगे।

मास्टरजी अपने लेखन में बीच-बीच में गरजने लगते हैं। वह दरअसल गत्ते की तलवार अपने गत्ते के कवच पर जोर जोरसे मारने लगते हैं। वह हमारे कथन का बहुत ही मूर्खता भरा अर्थ निकालते हैं:

"ये आगे लिखते हैं –

"... रूस तब जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में था और तब किसानों की समूची आबादी सैन्य सामन्ती ज़ारवादी राज्यसत्ता द्वारा दमित थी जो कि सामन्ती भूस्वामी वर्ग, देशी-विदेशी वित्तीय पूंजीपति वर्ग के साथ एक हद तक रूस के उभरते पूंजीपति वर्ग का प्रतिनिधित्व करती थी।"

"तो इनके अनुसार 1905 में समूची किसान आबादी सामंती भूस्वामी वर्ग तथा देशी-विदेशी वित्तीय पूंजीपति वर्ग के साथ (मिलकर) एक हद तक उभरते पूंजीपति वर्ग का

प्रतिनिधित्व करती थी! यह पागलपन के दौरे का परिणाम है या फिर इसे पूरे होश के साथ और स्वस्थ मानसिक स्थिति में लिखा गया है इसके बारे में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है।" (वही)

मास्टरजी को हिन्दी के जटिल वाक्य समझने में दिक्कत होती है यह जगजाहिर है। साथ ही यह मानसिक स्तर का बौनेपन के चलते धूर्तताएं भी जमकर करते हैं। दरअसल, इनकी धूर्तता और मूर्खता का संलयन हो चुका है कि इसमें से एक को छांट पाना सम्भव नहीं रह गया है। आइए मास्टरजी के लिए हम अपने इस वाक्य को दो साधारण वाक्यों में तोड़ें जिससे मास्टरजी को समझने में आसानी हो, क्योंकि उनके अल्प-विकसित बाल मस्तिष्क के लिए यह आवश्यक है। उपरोक्त कथन में कहा गया है कि रूस की जनवादी क्रान्ति मंजिल के दौरान किसानों की समूची आबादी का दमन करने वाली सैन्य सामन्ती भूस्वामी राज्यसत्ता थी। यह दमनकारी राज्यसत्ता सामन्ती भूस्वामी वर्ग, देशी-विदेशी वित्तीय पूंजीपति वर्ग के साथ एक हद तक रूस के उभरते पूंजीपति वर्ग का प्रतिनिधित्व करती थी। मास्टरजी को पटना में किसी हिन्दी के जानकार से हिन्दी व्याकरण की कक्षा कर लेनी चाहिए वरना यूं ही 'यथार्थ' पर कालिख रंगते रहेंगे।

अब हम महादेय के उस दावे को देख लेते हैं जिसके दमपर वह खुद को रूसी इतिहास से परिचित होने का दावा करते हैं। दरअसल यह भी उनकी नव नरोदवादी समझदारी को ही इंगित करता है। वह हमें उद्धृत करते हुए कहते हैं कि:

““लेखक महोदय यह तक कह डालते हैं कि अगर रूस में भी कॉरपोरेट पूंजी की दखल होती तो वहां भी समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में धनी किसानों को साथ लेने की ज़रूरत होती!”

"हमने ‘द ट्रुथ’ में ठीक ही लिखा था कि इनके इतिहास का ज्ञान हेडलाइन हिस्ट्री तक सीमित है। **पहली बात,** हमने **आम तौर पर रूस में** कॉर्पोरेट पूंजी की दखल की बात नहीं की है, हमने **खास तौर से रूस के कृषिक्षेत्र में** कॉर्पोरेट पूंजी की दखल का सवाल उठाया था। और हमारी यह बात सौ फीसदी सही है कि रूस के कृषि क्षेत्र में कॉर्पोरेट यानी बड़ी पूंजी की दखल उस समय तक नहीं हुई थी। ये आगे भी मेरे खास सवाल का जवाब देने के बजाय ये एक आम बात की रट लगाते हैं और हमसे पूछते हैं कि *क्या पीआरसी के लेखक महोदय को लगता है कि 1917 के रूस में देशी-विदेशी बड़ी इजारेदार पूंजी नहीं थी? क्या उन्हें यह लगता है कि 1917 में बड़ी इजारेदार पूंजी के हस्तक्षेप से अपेक्षाकृत छोटा पूंजीपति वर्ग उजड़ नहीं रहा था, यानी तब पूंजी के केन्द्रीकरण (centralization of capital) की कोई प्रक्रिया ही नहीं चल रही थी?* यहां कोई भी देख सकता है कि अपने मनमाफिक तरह का टर्फ बनाने की बीमारी से ये किस कदर ग्रस्त हैं। प्रश्न कुछ और है उत्तर ये कुछ और देते हैं। वह अंत में शरमाते हुए **अपेक्षाकृत बड़ी पूंजी का सवाल** उठाते हुए पूछते हैं – *क्या उन्हें लगता है कि खेती के क्षेत्र में **अपेक्षाकृत बड़ी पूंजी** के प्रवेश से किसानों का विभेदीकरण और ग़रीब किसानों के उजड़ने की एक प्रक्रिया जारी नहीं थी?*महोदय, कितनी कलाबाजी करेंगे? हम भारत में जिस बड़ी पूंजी की बात कर रहे हैं वह औद्योगिक-वित्तीय पूंजी यानी इजारेदार वित्तीय पूंजी है जिसने कृषि में चढ़ाई की है। हम बहस में अपने मनमाफिक टर्फ बनाने के लिए निकृष्ट तोड़-मरोड़ करने वाली इस मंडली को यह साबित करने चुनौती देते हैं कि वह साबित करें कि ऐसी कोई वित्तीय पूंजी (न कि कोई अपेक्षाकृत बड़ी पूंजी, क्योंकि हर छोटी पूंजी अपने से छोटी से अपेक्षाकृत बड़ी ही होती है) रूस के कृषि में प्रवेश कर चुकी थी।" (कॉर्पोरेट को लाल सलाम कहने की बेताबी में शोर मचाती ‘महान मार्क्सवादी चिंतक’ और ‘पूंजी के अध्येता’ की ‘मार्क्सवादी मंडली’ का घोर राजनैतिक पतन [2], ‘यथार्थ’ अंक 12)

माटसाब पूछते हैं कि क्या रूस की खेती में बड़ी इजारेदार पूंजी प्रवेश कर चुकी थी? जवाब में इससे इंकार करते हैं। आगे हम देखेंगे कि रूस की कृषि में भी इजारेदार वित्तीय पूंजी का प्रवेश हो चुका था। हम आगे आपको सन्दर्भ व आंकड़ों समेत दिखाएंगे कि क्रान्ति-पूर्व रूसी खेती में इजारेदार पूंजी का प्रवेश किस प्रकार और कितना हुआ था।

लेकिन मूल बात यह है कि इजारेदार पूंजी के के प्रवेश से गांव के क्रान्तिकारी वर्ग संश्रय पर कोई फर्क नहीं पड़ता है। अगर ऐसा है, तो उद्योग के क्षेत्र में भी इजारेदार पूंजी के प्रवेश का यह नतीजा निकाला जाना चाहिए कि अब सर्वहारा वर्ग को उजड़ रहे छोटे कारखाना मालिकों व अन्य छोटे पूंजीपतियों से एकता बनानी चाहिए। कोई वजह नहीं है कि माटसाब की तर्कपद्धति से ऐसा नतीजा न निकाला जाय। हम पहले ही मूल लेख में देख चुके हैं कि धनी किसान व कुलक ग्रामीण पूंजीपति वर्ग का ही अंग होते हैं। हालांकि अगर रूस की खेती में बड़ी इजारेदार पूंजी का प्रवेश न भी हुआ होता तब भी जिस मूल सवाल पर हमारे मास्टरजी चुपाई मारकर बैठ गए हैं वह यह है कि क्या क्रान्ति पूर्व रूस में किसानों का विभेदीकरण जारी नहीं था? दरअसल उनके सारे प्रयास इस विभेदीकरण के ऊपर पर्दा डालने हेतु ही किए गए हैं।

वह धनी किसानों और कुलकों की आह को इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि "धनी किसानों को, जो गरीब व मध्य किसानो के साथ ना सिर्फ शोषणकारी रिश्तों से बल्कि अन्य तरह के गहरे सामाजिक संबंधों से भी गहराई से जुड़े हैं, रूस के सौ साल पहले के कुलकों से तुलना कर रहे हैं जिनके पास कॉर्पोरेटीकरण का कोई कड़वा अनुभव नहीं था"।

यही वह तर्क है जो उनकी कुलकपरस्ती को प्रदर्शित करता है। इसमें उन्होंने अपनी कुलकपरस्ती साफ तौर पर प्रदर्शित की है जिसे वह इतिहास के विकृतिकरण के नीचे गोल करना चाहते हैं। देखें कि लेनिन धनी किसानों व कुलकों के ग़रीब व निम्न मंझोले किसानों से "गहरे सामाजिक सम्बन्धों" के बारे में क्या कहते हैं:

"The big peasants (*Grossbauern*) *[Grossbauern in German literally means 'big farmer' - Author]* **are capitalist *entrepreneurs* in agriculture,** who as a rule employ several hired labourers and are connected with the "peasantry" only in their low cultural level, habits of life, and the manual labour they themselves perform on their farms. **These constitute the biggest of the bourgeois strata who are open and determined enemies of the revolutionary proletariat. In all their work in the countryside, the Communist parties must concentrate their attention mainly on the struggle against this stratum, on liberating the toiling and exploited majority of the rural population from the ideological and political influence of these exploiters, etc."** (Lenin, **Preliminary Draft Theses on the Agrarian Question for the Second Congress of the Communist International**)

अब ज़रा तुलना करें कि ग़रीब किसानों के धनी किसानों व कुलकों से "गहरे सामाजिक सम्बन्धों" को लेकर *माटसाब* किस प्रकार जज़्बाती हुए जा रहे हैं और इस विषय में लेनिन का क्या दृष्टिकोण था।

जैसा कि हमने कहा, इजारेदार पूंजी के प्रवेश होने न होने से कोई अन्तर नहीं पैदा होता। सवाल यह है कि खेती में पूंजीवादी विकास हो रहा था या नहीं? सवाल यह है कि एक धनी किसान व कुलकों का खेतिहर पूंजीपति वर्ग पैदा हो चुका था या नहीं? सवाल यह है कि क्या रूसी खेती में वर्ग विभेदीकरण जारी था या नहीं? अगर रूस में किसान वर्ग विभेदीकृत थी तो समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में, इजारेदार पूंजी के प्रवेश के बावजूद, ''कॉरपोरेटों के कड़वे अनुभवों'' के बावजूद, कुलक और धनी किसान क्रान्ति के सहयोगी कैसे होते? *माटसाब* भारत में धनी किसानों और कुलकों के ''कॉरपोरेटों के कड़वे अनुभवों'' के कारण उन्हें क्रान्ति में सहयोगी मानते हैं! मास्टरजी ने 'द ट्रूथ' के 12वें अंक में यही सैद्धांतिक झोल किया है। वह पहले रूस और भारत के कुलकों और धनी किसानों को 'किसान बुर्जुआजी' बताकर उन्हें ग्रामीण पूंजीपति वर्ग मानने से इंकार कर देते हैं। वह यह भी कहते हैं कि धनी किसानों और गरीब किसानों "गहरे सामाजिक सम्बन्धों" से जुड़े हैं। हम इनके विषय में लेनिन की राय देख चुके हैं। गांव में एक तरफ़ ज़मीन के बड़े मालिक हैं तो दूसरी तरफ़ ग़रीब मेहनतकश किसान और उजरती मज़दूर हैं। ज़मीन का मालिकाना धनी किसानों को हर किसान से जोड़ता है लेकिन उजरती मज़दूरी का सम्बन्ध गरीब मेहनतकश किसानों को सर्वहारा वर्ग से जोड़ता है। इस पूरे प्रश्न पर मास्टरजी ग़रीब किसानों और धनी किसानों के बीच वर्गीय अन्तर को गायब कर सामाजिक सम्बन्ध ढूंढ निकालते हैं। यही है मास्टरजी का वर्ग विभेदीकरण की प्रक्रिया पर पर्दा डालने का प्रयास, जो कि हर नरोदवादी की मंशा रहती है। लेनिन साफ़-साफ़ लिखते हैं कि:

"Under capitalism, the small farmer—whether he wants to or not, whether he is aware of it or not—becomes a commodity producer. And it is this change that is fundamental, for it alone, even when he does not as yet exploit hired labour, makes him a petty bourgeois and converts him into an antagonist of the proletariat. He sells his product, while the proletarian sells his labour-power. The small farmers, as a class, cannot but seek a rise in the prices of agricultural products, and this is tantamount to their joining the big landowners in sharing the ground-rent, and siding with the landowners against the rest of society. As commodity production develops, the small farmer, in accordance with his *class* status, inevitably becomes a *petty landed proprietor*." (Lenin, **New Data on the Laws Governing the Development of Capitalism in Agriculture**)

लेनिन किसानों को वर्ग से परे श्रेणी के रूप में नहीं देखते हैं जबकि हमारे नरोदनिक मास्टरजी इसपर ही पर्दा डालने में लगे हुए हैं। लेनिन ग़रीब किसान को धनी किसानों व कुलकों से बिल्कुल अलग करके देखते हैं। लेनिन मज़दूर वर्ग का गरीब किसान के प्रति क्या नज़रिया रखता है यह साफ़ करते हैं:

"The proletarian says to the small peasant: you are a semi-proletarian, so *follow the lead* of the workers; it is your only salvation.

"The bourgeois says to the small peasant: you are a small proprietor, a "labouring farmer". Labour economy "grows"

under capitalism as well. You should be with the proprietors, not with the proletariat.

"The small proprietor has two souls: one is a proletarian and the other a “proprietory” soul.

"The Left Narodniks are, *in effect*, repeating the theories of the bourgeoisie and *corrupting* the small peasants with “proprietory” illusions. That is why the Marxists relentlessly combat this bourgeois corruption of the small peasants (and backward workers) by the Left Narodniks." (Lenin, **The Left Narodniks Whitewash the Bourgeoisie**)

धनी किसान और गरीब किसानों बीच सामाजिक सम्बन्ध ढूंढने वाले बुर्जुआ वर्ग के ही सिद्धांतकार हैं। यही मास्टरजी की वर्ग सहयोगवाद की दिशा है जिसे वह इस प्रश्न में उलझा रहे हैं कि क्या रूस की कृषि में बड़ी इजारेदार पूंजी का प्रवेश हुआ था। वह संघर्षरत किसानों और वास्तविक किसानों की बात भी बार उठाते हैं जो कि रूस के वाम नरोदनिकों का प्रमुख शगल था:

"As soon as the Left-Narodnik gentry pass from empty and general phrases about the “labouring peasantry”—phrases that have been worked to death and reveal ignorance of both *The Communist Manifesto* and of *Capital*—to *precise figures*, we immediately see how the Left Narodniks white wash the bourgeoisie.

"The bourgeois character of the *entire* “labouring peasantry” theory is disguised behind catch-phrases and exclamations, but it is exposed by facts and by a study of Marx’s theory." (Lenin, **The Left Narodniks Whitewash the Bourgeoisie**)

लेनिन यह साफ़ करते हैं कि आम तौर पर किसानों की बात कर नरोदनिक धनी किसानों के पूंजीपति होने पर पर्दा डालते हैं:

"all the honeyed petty-bourgeois talk of the Narodniks regarding the *peasants in general* will serve as a shield for the deception of the propertyless mass by the ***wealthy peasants, who are merely a variety of capitalists****."* (Lenin, **The Tasks of the Proletariat in Our Revolution (Draft Platform for the Proletarian Party),** *emphasis ours*)

पूंजीपति वर्ग के भीतर बड़े पूंजीपति वर्ग और छोटे पूंजीपति वर्ग के बीच विभेद कर सर्वहारा वर्ग के लिए छोटे पूंजीपति वर्ग साथ मोर्चा बनाने की कार्यदिशा का लेनिन स्पष्ट शब्दों में विरोध करते हैं। याद रहे, *माटसाब* के विचारों के उलट 'किसान बुर्जुआजी' व धनी किसान ग्रामीण पूंजीपति वर्ग और इसलिए पूंजीपति वर्ग का ही अंग हैं, जैसा कि हम मूल लेख में देख चुके हैं और आप उपरोक्त उद्धरण में भी देख सकते हैं। इजारेदार पूंजी के खेती में प्रवेश से कुलकों व धनी किसानों के समक्ष उजड़ने का ख़तरा पैदा होने से यह नतीजा निकालना कि अब धनी किसान व कुलक सर्वहारा वर्ग और समाजवाद के पक्ष में आ जाएंगे, एक असुधारणीय रूप से नरोदवादी भ्रम है, जिसका लेनिन खण्डन करते हैं। लेनिन कहते हैं:

"**Capitalists may be small or big, foolish or clever, but this is not a criterion of capitalism. Capitalism means producing *commodities* and hiring wage-labour.**" (Lenin, **There’s a Trudovik For You!**)

वैसे तो समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में खेती में इजारेदार पूंजी के प्रवेश से वर्ग संश्रय पर कोई फर्क नहीं पड़ता है और पूंजीवादी विकास के साथ किसान आबादी का धनी, मंझोले व ग़रीब किसानों में विभेदीकृत होना इस बात के लिए पर्याप्त है कि मज़दूर वर्ग धनी किसानों व कुलकों के विरुद्ध ग़रीब किसानों व अर्द्धसर्वहारा के साथ मज़बूत मोर्चा बनाएगा। इजारेदार पूंजी के प्रवेश से धनी किसानों-कुलकों के एक हिस्से के उजड़ने की वजह से भी इस वर्ग संश्रय में कोई फर्क नहीं पड़ता है। लेकिन अब आइये *माटसाब* के इस दावे पर पर विचार कर लेते हैं कि क्रान्ति-पूर्व रूसी खेती में इजारेदार पूंजी का प्रवेश हुआ था या नहीं।

क्या रूसी खेती में इजारेदार पूंजी का प्रवेश हुआ था?

रूसी खेती में पूंजी का प्रवेश विदेशी पूंजी के अलावा राज्य द्वारा स्थापित बैंकों के ज़रिये भी हुआ था। राज्य द्वारा किसान बैंक स्थापित किया गया जो शासक वर्ग द्वारा किसान आबादी की लूट सुनिश्चित करते थे। धनी किसानों और ज़मींदारों द्वारा सूदखोरी और *मोर्गेज* के जरिये लूट के साथ राज्य बैंकों

के जरिये भी समूचे पूंजीपति वर्ग और ज़मींदारों के लिए किसानों को लूट रहा था। रूस में किसान आबादी का विभेदीकरण को यह तीव्र कर रहा था। दूसरी तरफ़ रूस के भूस्वामी ही पूंजीवादी भूस्वामियों यानी पूंजीपतियों में तब्दील हो रहे थे। ग़रीब किसानों की लूट में बैंकों की इजारेदार वित्तीय पूंजी की एक अहम भूमिका थी जिन्होंने बड़ी संख्या में धनी किसानों और ज़मींदारों को ऋण दिये। इसके लिए किसान बैंक और अन्य बैंक मौजूद थे। इनमें ख़ास तौर पर 1905 की क्रान्ति के बाद गुणात्मक तेज़ी आती है। लेनिन बताते हैं कि राज्य के बैंकों की पूंजी वास्तव में पूंजीपतियों की ही पूंजी थी, जिसका इस्तेमाल राज्य ग़रीब व मंझोले किसानों की लूट के लिए कर रहा था। रूस में जल्द ही ज़मीन का बड़ा हिस्सा बैंकों को गिरवी रखा जा चुका था। देखें:

"Land credit in Russia was represented by two state banks—the Bank of the Dvorianstvo and the Peasants' Bank (in 1914 they accounted for more than 60 percent of mortgaged agricultural land)—and also by eight local dvorianstvo (gentry or nobility)banks, ten joint stock land banks, and 36 municipal credit societies. By 1914 all land banks had issued 5.4billion rubles of mortgage bo nds (a form of long term bond that mortgage banks used to attract money from capitalists) and granted long term loans amounting to 5.3 billion rubles, of which over 3.6 billion rubles was issued on mortgages of agricultural land—including as much as 60 percent granted to landlords and 40 percent directed through the Peasants' Bank to finance the purchase of the landlords' lands (at excessive prices) by the prosperous kulaks of the countryside, a trend accelerated by the Stolypin agrarian reform. The demand for agricultural production credit by the rural upper strata was met by the so-called peasant social institutions and zemstvo funds for small-scale credit and most importantly by savings bank and credit associations (credit cooperatives). In 1914 there were 18,000 such institutions and associations with 645 million rubles of outstanding loans. Savings banks in Russia belonged to the state, and the government used deposits (by 1914, 1.7 billion rubles) to invest in state bonds and mortgage bonds of state land banks." (**The Great Soviet Encyclopedia**, 3rd Edition (1970-1979))

ये आंकड़ें साफ़ करते हैं कि किसान आबादी को वित्तीय इजारेदार पूंजी ने गांव में किस तरह जकड़ रखा था। राजकीय बैंकों की पूंजी भी पूंजीपति वर्ग की ही पूंजी होती है, जैसा कि लेनिन ने बताया है। बड़े जमींदार और पूंजीवादी किसान व कुलक ही गांव में बड़ी इजारेदार पूंजी का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। यही स्तोलिपिन की आर्थिक नीतियों के तमाम परिणामों में से एक परिणाम यह भी था।

अब आते हैं विदेशी बड़ी इजारेदार पूंजी पर। रूस में विदेशी पूंजी भी खेती में प्रवेश कर चुकी थी। देशी और विदेशी बैंकों के जरिये वित्तीय पूंजी रूस के कृषि क्षेत्र में भी निवेश कर रही थी। कुलक और ज़मींदार ही मुख्यत: वित्तीय निर्यात कम्पनियों के साथ फसल खरीद के सौदे करते थे और इस प्रकार खेती उत्पाद के विपणन के क्षेत्र में विदेशी बड़ी इजारेदार पूंजी के प्रवेश का रास्ता साफ़ कर रहे थे। लाइशेंको बताते हैं:

"Most important from the economic standpoint was the participation of foreign capital in the export trade through the chain of banks controlled by foreign capital (the Russian Foreign Trade, the Azov-Don, the Petersburg International, and other banks). **In an important line of exports such as grain, the banks of the southern ports took over a considerable proportion, no less than one-half, of the export business, advancing substantial loans to the planters against 'unreaped'' grain, buying through small tradesmen and through their own agents large holdings of grain, and granting loans in duplicate for the building of elevators, and so forth.** Besides the private banks, the financing of grain exports also attracted the State Bank. Thus in 1910 it advanced 16 million rubles in loans against grain exports to the planters (landowners and kulak peasants) in Kherson Province, and about 6 million rubles in Tauride Province, In such large ports as Nikolayev, the grain export business of the banks constituted 35 per cent of

total exports in 1909, and, moreover, three large banks controlled all financing of private commercial firms.

"The main banks taking an active part in the trade in agricultural products, and in grain export operations particularly, were the Azov-Don, the International, the Petersburg Private Commercial, the Northern, the Russo-Asiatic (operating chiefly with French capital), the Russian Foreign Trade, and the Petersburg Discount Bank (working chiefly with German capital).

"Among the remaining large banks heavily involved in the grain trade but still retaining their "national" independence, the one outstanding example was the Volga-Kama Bank— a stronghold of the old "national" commercial capital in the Volga-Kama area since the days of the grain barges and manual hauling. As mentioned previously, the proportion of foreign capital in the basic capital of the above banks was about 30 to 50 pet cent, a figure that may also be used to express the degree to which Russia's export trade in agri- cultural products was dependent upon foreign banking capital. (P. I. Lyashchenko, **History of the National Economy of Russia,** *emphasis ours*)

बैंक व वित्तीय पूंजी की रूसी खेती में बढ़ती इस दख़लन्दाज़ी का नतीजा ही था कि 1917 तक रूस के अधिकतम बड़े भूस्वामियों की ज़मीनें बैंकों को *मोर्गेज* की जा चुकी थीं, जैसा कि हम आगे देखेंगे। **यही कारण था कि लेनिन ने फरवरी क्रान्ति के बाद स्पष्ट शब्दों में कहा कि अब कृषि के क्षेत्र में जनवादी कार्यभारों को पूरा करने का कार्य भी समाजवादी क्रान्ति ही कर सकती है क्योंकि रैडिकल बुर्जुआ भूमि सुधार बैंकों के राष्ट्रीकरण के बिना सम्भव नहीं है।** इस रूप में समाजवादी क्रान्ति ही अब अधूरी जनवादी क्रान्ति को बचा सकती है और उसे पूर्णता तक पहुंचा सकती है। लेकिन उस पर थोड़ा आगे आते हैं।

कुलकों और ज़मींदारों का विदेशी और देशी इजारेदार पूंजी के साथ सौदेबाज़ी का अनुभव था लेकिन यह कोई कड़वा अनुभव नहीं था। और भारत में भी अब तक कुलकों और धनी किसानों को बड़ी इजारेदार वित्तीय पूंजी की पर्याप्त सहायता ऋण के ज़रिये मिलती रही है, जिसने कि उनके द्वारा ग़रीब व निम्न मंझोले किसानों तथा खेतिहर सर्वहारा वर्ग की लूट में एक अहम भूमिका निभाई है। यह केवल लाभकारी मूल्य के रूप में इस खेतिहर पूंजीपति वर्ग के बेशी मुनाफे/इजारेदार लगान को ख़त्म करने का मसला है, जिस पर की इसका बड़ी इजारेदार वित्तीय पूंजी से अन्तरविरोध तीखा हुआ है। लेकिन उनके बीच में कोई शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोध नहीं है। इसीलिए तो कुलकों-धनी फार्मरों के नेतृत्व ने बार-बार स्पष्ट किया है कि यदि सरकार लाभकारी मूल्य को एक कानून के ज़रिये निजी कारपोरेट ख़रीदारों के लिए भी बाध्यतापूर्ण बना दे तो उन्हें कोई एतराज़ नहीं है। *लेकिन धनी किसानों-कुलकों के कुर्ते इस्त्री करने के लिए तैयार बैठे पटना के दोन किहोते और उनके महान शिक्षक मूर्खेश असीम को ये सच्चाइयां नज़र नहीं आ रही हैं।*

लेनिन उपरोक्त कारणों से ही कहते हैं कि विश्व पूंजीवाद गांव के पूंजीपति वर्ग का भी समर्थन करता है:

"World capitalism as a whole, the entire power of international commerce, the might of capital to the tune of thousands of millions in the hands of the bourgeoisie of all countries are pulling Russia along with them, sustaining and supporting her **bourgeoisie in the towns and in the *countryside*, including those within the village communes."** (Lenin, **The Land Question and the Rural Poor,** *emphasis ours*)

लेनिन स्पष्ट करते हैं कि क्रान्ति के पहले ही बैंकों यानी वित्तीय इजारेदार पूंजी और पूंजीपतियों के हित ज़मींदारों से बंधे हुए थे:

"But the land question cannot be settled independently of the other problems of the revolution. A correct view of these problems can be derived from an analysis of the stages through which the revolution has passed. The first stage was the

overthrow of the autocracy and the establishment of the power of the bourgeoisie and the landowners. **The interests of the landowners were closely interwoven with those of the bourgeoisie and the banks.**" (Lenin, **The Extraordinary All-Russia Congress of Soviets of Peasants' Deputies,** *emphasis ours*)

लेनिन स्पष्ट करते हैं कि बैंकों की पूंजी का हस्तक्षेप उपरोक्त तरीकों से खेती में भी प्रवेश कर चुका है और इसलिए बैंकों के राष्ट्रीकरण के बिना कृषि में अधूरे जनवादी कार्यभारों को पूर्ण करने का काम भी नहीं हो सकता है।

"It is necessary to nationalise the banks and the insurance business immediately, and also the most important branches of industry (oil, coal, metallurgy, sugar, etc.), and at the same time, to abolish commercial secrets and to establish unrelaxing supervision by the workers and peasants over the negligible minority of capitalists who wax rich on government contracts and evade accounting and just taxation of their profits and property.

"Such measures, which do not deprive either the middle peasants, the Cossacks or the small handicraftsmen of a single kopek, are urgently needed for the struggle against famine and are absolutely just because they distribute the burdens of the war equitably. Only after capitalist plunder has been curbed and the deliberate sabotage of production has been stopped will it be possible to work for an improvement in labour productivity, introduce universal labour conscription and the proper exchange of grain for manufactured goods, and return to the Treasury thousands of millions in paper money now being hoarded by the rich.

"**Without such measures, the abolition of the landed estates without compensation is also impossible, for the major part of the estates is mortgaged to the banks, so that the interests of the landowners and capitalists are inseparably linked up."** (Lenin, **The Tasks of the Revolution**)

लेनिन के अनुसार बैंकों के हित ज़मींदारों और पूंजीपति वर्ग से जुड़े हुए थे। ज़मीन का बड़ा हिस्सा बैंकों के पास *मोर्गेज* पड़ा था क्योंकि बड़ी इजारेदार पूंजी से मिलने वाले ऋण गांवों में कुलकों व धनी किसानों की लूट में एक अहम भूमिका निभाते थे। यही कारण था कि भूमि आज्ञप्ति में ज़मीन को समस्त जनता की सम्पत्ति घोषित किया गया, उसका राष्ट्रीकरण किया गया और साथ ही उसकी ख़रीद-फ़रोख़्त, किराए पर देने और उसे गिरवी रखने पर पूर्ण रोक लगा दी गयी। यह सबकुछ बैंकों के राष्ट्रीकरण के ज़रिये वित्तीय इजारेदार पूंजी की जकड़बन्दी को समाप्त किये बिना सम्भव नहीं था।

"Private ownership of land shall be abolished forever; land shall not be sold, purchased, leased, mortgaged, or otherwise alienated."

उपरोक्त विवरण से हम देख सकते हैं कि रूस की खेती में भी बड़ी इजारेदार पूंजी की दख़ल मौजूद थी। विदेशी पूंजी तमाम फसलों पर कुलकों और ज़मींदारों के साथ फसल के सौदे करती थी और इसके ज़रिये खेती उत्पाद के विपणन में दख़ल रखती थी। दूसरी तरफ़ राजकीय बैंकों द्वारा किसानों की ज़मीनों पर उन्हें मोर्गेज लोन दिया जाता था। इसका नतीजा यह हुआ कि 1917 तक आते-आते बैंक के पास भूस्वामियों व किसानों की अधिकांश ज़मीन मोर्गेज पर पड़ी थी। निश्चित तौर पर, आज भारतीय खेती में जिस तरीके से बड़ी इजारेदार पूंजी का हस्तक्षेप हो रहा है, उसका कोई सादृश्य-निरूपण रूसी खेती में क्रान्ति से पहले बड़ी इजारेदार पूंजी के निवेश से नहीं किया जा सकता है, क्योंकि भारतीय पूंजीवाद उस मंजिल से काफ़ी आगे की अवस्था में है, जिसमें कि रूसी पूंजीवाद 1917 में था और यह स्वाभाविक ही है। लेकिन यदि *माटसाब* को यह लगता है कि रूसी खेती में बड़ी इजारेदार पूंजी की कोई दख़ल नहीं थी, तो उन्हें एक बार किसी की मदद से पेंसिल टिका-टिकाकर रूस का इतिहास ढंग से पढ़ लेना चाहिए।

आज बड़ी इजारेदार पूंजी का भारतीय खेती में दख़ल देने का मुख्य मकसद है कुलक व धनी किसान वर्ग के उस बेशी मुनाफे को समाप्त करना जो कि

इसी पूंजीवादी राज्यसत्ता ने 1960 के दशक में लाभकारी मूल्यों की व्यवस्था के ज़रिये उसे इसलिए मुहैया कराया था क्योंकि उस समय भारतीय बड़े पूंजीपति वर्ग को भारतीय खेती में पूंजीवादी विकास की आवश्यकता थी, उत्पादकता के विकास की आवश्यकता थी और खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता की आवश्यकता थी। यह कार्य या तो रैडिकल बुर्जुआ भूमि सुधारों द्वारा आज़ादी के तत्काल बाद सम्भव था, जो कि खेती के क्षेत्र मे उत्पादक शक्तियों को निर्बन्ध करता, या फिर युंकर-शैली के प्रशियाई पथ के भूमि सुधारों द्वारा। भारतीय पूंजीपति वर्ग को जो ऐतिहासिक चरित्र रहा था, उसके कारण पहला रास्ता उसके लिए अपनाना असम्भव था। इसलिए आज़ादी के तत्काल बाद उसने युंकर शैली के भूमि सुधार कर सामन्ती भूस्वामियों को पूंजीवादी भूस्वामियों में बदलने की प्रक्रिया आरम्भ की और फिर 1960 के दशक के मध्य से खेती के क्षेत्र में पूंजीवादी फार्मरों व पूंजीवादी काश्तकार फार्मरों तथा पूंजीवादी भूस्वामियों के एक वर्ग को बढ़ावा देकर पूंजीवादी विकास के रास्ते को साफ़ किया। **इसमें स्वयं बड़ी इजारेदार पूंजी ने ऋण के ज़रिये कुलकों-धनी किसानों के वर्ग को खड़ा करने में एक अहम भूमिका निभाई।** लाभकारी मूल्य या बेशी मुनाफा सुनिश्चित करने के इस उपकरण के ज़रिये पूंजीवादी विकास को प्रेरित करने की प्रक्रिया 1980 के दशक के अन्त तक अपने सन्तृप्ति बिन्दु पर पहुंच चुकी थी और अब बड़े पूंजीपति वर्ग के लिए यह बेशी मुनाफ़ा एक बोझ था।

अब मोदी सरकार बड़े पूंजीपति वर्ग की इस आवश्यकता को पूर्ण कर रही है। खेती में इजारेदार पूंजी का प्रवेश आज पूंजीवाद की आवश्यकता है और संकट के दौर में मज़दूरी पर बढ़ने के हर दबाव को समाप्त करना उसके लिए एक अनिवार्यता है। रूस में खेती में इजारेदार पूंजी के प्रवेश के रूप आज से हूबहू नहीं मिल सकते हैं क्योंकि रूसी पूंजीवाद उस समय जिस मंजिल में था, भारतीय पूंजीवाद उससे अलग मंजिल में है और दोनों के उद्भव और विकास का इतिहास भी अलग रहा है। **लेकिन यदि कोई यह सोचता है कि क्रान्ति-पूर्व रूस में खेती में बड़ी इजारेदार पूंजी का हस्तक्षेप नहीं था, तो यही कहा जा सकता है कि उसे इतिहास और सिद्धान्त दोनों का ही गम्भीरता से अध्ययन करना चाहिए।** चूंकि *माटसाब* में ऐसा करने की क्षमता का ही अल्पविकसित मस्तिष्क होने के कारण अभाव है, इसलिए उन्हें हम किसी की सहायता से ऐसा करने की सलाह देंगे।

7. क्रान्ति में किन वर्गों का मोर्चा बनेगा: मास्टरजी का लचीला अवसरवाद

धनी किसानों को साथ लेने की वकालत करते-करते मास्टरजी आखिरकार क्रान्ति की रणनीति और रणकौशल बारे में भी संशोधनवादी समझदारी पेश करते हैं:

"हम कह सकते हैं कि सर्वहारा क्रांति की सफलता व असफलता में बुनियादी संश्रयकारी वर्गों के मोर्चे के अलावा अन्य दूसरे दरमियानी वर्गों के आ मिलने या हट जाने से महत्वपूर्ण फर्क पड़ता है, खासकर इसे आसानी से और त्वरित ढंग से पूरा करने में। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि हम अपने प्रयासों से ऐसी कोई परिस्थिति निर्मित या पैदा कर सकते हैं। नहीं, यह संभव नहीं है। यह मुख्य रूप से परिस्थितियों के अपने स्वतंत्र तथा स्वाभाविक विकास पर निर्भर करता है और उस बिंदु पर अन्य तमाम क्रियाशील वर्गों की कार्यवाहियों के द्वारा बने अंतर्विरोधों के संधि तथा विग्रह पर निर्भर करता है। हम इसका अनुमान लगा सकते हैं, उस आधार पर अपने लिए कार्यभार निकाल या तय कर सकते हैं, लेकिन उसे बनावटी रूप से पैदा नहीं कर सकते हैं। **दूसरे शब्दों में, क्रांतियों में अक्सर उस समय के मुख्य अंतर्विरोध के साथ अन्य अंतर्विरोधों के संधि व विग्रह का काफी महत्व होता है। लेकिन जहां तक सर्वहारा क्रांति के बाद समाजवाद के निर्माण के कार्यभार का सवाल है यह बिल्कुल अलग बात है और इसकी गारंटी करना एक ऐसा काम है जो लचीलापन से तो जरूर भरा है या होगा लेकिन बुनियादी संश्रयकारी वर्गों के मोर्चे की भूमिका हमेशा ही मुख्य बनी रहेगी। इसलिए सर्वहारा राज्य में सत्ता में किस अन्य की हिस्सेदारी होगी इसका सवाल भी यहीं से तय होता है और होगा।"** (कॉर्पोरेट को लाल सलाम कहने की बेताबी में शोर मचाती 'महान मार्क्सवादी चिंतक' और 'पूंजी के अध्येता' की 'मार्क्सवादी मंडली' का घोर राजनैतिक पतन [2], यथार्थ अंक 12)

यह मार्क्सवाद-लेनिनवाद के समाजवादी क्रान्ति के कार्यक्रम, रणनीति और आम रणकौशल की समझदारी का मखौल उड़ाना है। **"बुनियादी संश्रयकारी वर्गों के मोर्चे के अलावा अन्य दूसरे दरमियानी वर्गों के आ मिलने या हट जाने से महत्वपूर्ण फर्क पड़ता है"** यह वर्ग सहयोग की समझदारी है। **पहली बात तो यह है कि किसी भी समाजवादी क्रान्ति के रणनीतिक संश्रय में पहले ही वे तथाकथित "दरमियाने" वर्ग**

शामिल होते हैं, जो शामिल हो सकते हैं, मसलन, शहरी मध्य वर्ग, मध्यम किसान, आदि, हालांकि ये तथाकथित "दरमियाने" वर्ग समाजवादी क्रान्ति के दुलमुलयक़ीन मित्र होते हैं। कोई ऐसा वर्ग जो कि स्वयं पूंजीवादी शोषक हो, जो उजरती श्रम को नियमित तौर पर लूटने वाला हो और उसकी समूची अर्थव्यवस्था ही उजरती श्रम के शोषण पर निर्भर करती है, वह अपने से बड़े पूंजीपति वर्ग के साथ तमाम अन्तरविरोधों के बावजूद समाजवादी क्रान्ति में साथ नहीं आ सकता है। अगर अन्तत: उसे सर्वहारा सत्ता और पूंजीवाद में से ही किसी एक को चुनना होता है, तो वह पूंजीवाद को ही चुनता है। इसलिए *माटसाब* की यह "दरमियाने वर्गों" के समाजवादी क्रान्ति के साथ आने के सिद्धान्त के पीछे वर्ग सहयोगवाद की सोच खड़ी है। इसलिए जहां तक समाजवादी क्रान्ति के रणनीतिक वर्ग संश्रय का प्रश्न है, तो इतना स्पष्ट है कि पूंजीपति वर्ग का कोई भी हिस्सा उसमें शामिल नहीं होने वाला है, चाहे वह छोटा कारखानेदार हो, कुलक व धनी किसान हो, बड़ा व मंझोला व्यापारी हो, या फिर ठेकेदार-दलाल, चाहे उसके बड़े पूंजीपति वर्ग से कितने ही अन्तरविरोध क्यों न हों। जैसा कि लेनिन ने कहा था, किसी पूरे वर्ग को मूर्ख नहीं बनाया जा सकता है।

लेकिन *माटसाब* को लगता है कि छोटे पूंजीपति वर्ग के उपरोक्त हिस्से, विशेषकर, धनी किसान व कुलक वे "दरमियाने" वर्ग हैं, जो समाजवादी क्रान्ति में साथ आ सकते हैं! हम दिखला चुके हैं कि 1917 की अक्तूबर क्रान्ति में भी धनी किसानों-कुलकों के वर्ग का एक हिस्सा केवल और केवल सामन्तवाद के विरुद्ध और बुर्जुआ जनवादी भूमि सुधार तक ही साथ आया था और यहां तक कि बुर्जुआ जनवादी भूमि सुधारों के कार्यान्वयन की प्रक्रिया में भी उसके अच्छे-ख़ासे हिस्से का आंशिक सम्पत्ति-हरण हुआ था, उसके उजरती श्रम के शोषण के अधिकार को छीन लिया गया था और नतीजतन उसने शत्रु के समान बर्ताव किया था। **लेकिन *माटसाब* को यह पूरा इतिहास ही नहीं पता है, जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं और इसलिए वह मूर्खतापूर्ण अललटप्पू तुक्केबाज़ी करते रहते हैं।**

जहां तक आम रणकौशल का प्रश्न है, तो सर्वहारा वर्ग राजनीतिक जनवाद के प्रश्न पर और *सिर्फ इसी प्रश्न* पर कुछ परिस्थितियों में पूंजीपति वर्ग के किसी हिस्से के साथ मुद्दा-आधारित मोर्चा बना सकता है। लेकिन सर्वहारा वर्ग ऐसा मोर्चा उनकी *वर्गीय आर्थिक मांगों* पर नहीं बना सकता है क्योंकि वे मांगें ही हमेशा बेशी मूल्य के विनियोजन में अपनी हिस्सेदारी को बढ़ाने के लिए होती हैं। और सर्वहारा वर्ग पूंजीपति वर्ग के किसी भी धड़े द्वारा बेशी मूल्य के विनियोजन में अपने हिस्से को बढ़ाने की मांग पर कोई मोर्चा नहीं बना सकता है; वह यह नारा नहीं उठा सकता कि उसे बड़े पूंजीपति वर्ग द्वारा शोषण की बजाय छोटे पूंजीपति वर्ग के द्वारा शोषण पसन्द है। पूंजीवाद में बड़े पूंजीपति वर्ग और छोटे पूंजीपति वर्ग व टुटपुंजिया वर्गों में कई बार राजनीतिक जनवाद व स्वतंत्रता के प्रश्न पर भी अन्तरविरोध तीखे हो जाते हैं, वहां पर सर्वहारा वर्ग राजनीतिक जनवाद और स्वतंत्रता की हिफ़ाज़त के लिए किसी एक धड़े के साथ रणकौशलात्मक मोर्चा अवश्य बना सकता है। लेकिन ऐसा मोर्चा भी सर्वहारा वर्ग केवल तभी बना सकता है जब वह स्वयं राजनीतिक रूप से स्वतंत्र हो, उसकी एक स्वंतत्र अवस्थिति और स्वतंत्र नेतृत्व हो। अन्यथा, इस प्रकार के मोर्चों में भी वह महज़ पूंजीपति वर्ग के किसी धड़े का एक उपकरण और बटखरा मात्र बनकर रह जाता है।

जैसा कि आप देख सकते हैं, *माटसाब* को कुछ बुनियादी बातें समझ में नहीं आती हैं। पहला यह कि इतिहास की गति के कुछ नियम होते हैं, आकस्मिक सम्भावनाओं की भी एक ऐतिहासिक सीमा होती है और इसलिए पूंजीपति वर्ग का कोई भी हिस्सा समाजवादी क्रान्ति में कभी साथ नहीं आ सकता, क्योंकि उसका जीवन और उसकी अर्थव्यवस्था ही उजरती श्रम के शोषण पर निर्भर करती है। दूसरी बात, आम रणकौशल के "लचीलेपन" के नाम पर उसे रणनीति से स्वतंत्र नहीं किया जा सकता है। आम रणकौशल का मकसद रणनीति के मातहत तात्कालिक वर्ग स्थितियों में रणनीतिक लक्ष्य की ओर आगे बढ़ना होता है। रणकौशल का ऐसा कोई लचीलापन नहीं होता है, जिसके अनुसार सर्वहारा वर्ग शत्रु वर्गों की गोद में जाकर बैठ जाता है, जिस प्रकार *माटसाब* बैठ गए हैं। तीसरी बात, जिन सूरतों में राजनीतिक जनवाद के मसलों पर पूंजीपति वर्ग के किसी हिस्से के साथ भी रणकौशलात्मक मोर्चा बन सकता है, उन सूरतों में भी सर्वहारा वर्ग तभी सफलतापूर्वक ऐसे मोर्चों से अपना लक्ष्य पूरा कर सकता है, जबकि उसकी अपनी एक स्वतंत्र राजनीतिक अवस्थिति हो, न कि पूंजीपति वर्ग के किसी धड़े का दुमछल्ला बनकर। दरअसल, *माटसाब* "असीम आकस्मिक सम्भावनाओं" को जन्म देकर समाजवादी क्रान्ति के रणनीतिक संश्रय में "दरमियाने" वर्गों का धूम्रावरण फैलाकर दरअसल छोटे व मंझोले पूंजीपति वर्ग (कुलकों-धनी किसानों) के साथ वर्ग सहयोगवाद की अपनी सोच को स्मगल करने का प्रयास कर रहे हैं।

8. बन्दर के हाथ में उस्तरा: मास्टरजी ने अपनी हजामत कैसे बनाई

मास्टरजी अपने कुतर्कों के गंजे होने की हद तक पहुंच जाने पर झूठ और ग़लतबयानी पर उतर आते हैं। पिछले लेख में मास्टरजी ने कहा था कि हमने उन्हें उद्धृत ही नहीं किया या उनके उद्धरणों के साथ तोड़-मरोड़ की है। हमने उपरोक्त लेख के जवाब में उनके झूठ को उजागर करने के लिए उनके उद्धरणों और हमारे जवाबों को फिर से सिलसिलेवार पेश किया था। मास्टरजी का झूठ पकड़ा गया तो उन्होंने भी सोचा कि मैं भी यह तरीका अपनाता हूं। उन्हें लगा कि हमारे उद्धरण और उनके उद्धरणों को एक के बाद एक पेश करने से सांचो पांज़ाओं को यह प्रतीत होगा कि जवाब दे दिया गया है। वह यहां भी कोचिंग संस्थान में बच्चों को बताने वाली ही युक्ति अपनाते हैं कि जवाब न आए तो सवाल को ही टीपकर आ जाओ और उसे ही दो-तीन बार घुमा-फिराकर लिख दो। यहां उन्होंने कोई नई बात करने की जगह अपने पुराने तर्कों को पुन: पेश किया है। इसके अलावा, उन्होंने अपने दिमाग़ पर पूरा ज़ोर देकर जो निकाला है वो गाली-गलौच है।

क. धनी किसान की पूंछ पकड़ते हुए गलाफाड़ कर नारेबाजी करने की मास्टरजी की आदत

मास्टरजी को जहां अपनी अवसरवादी लाइन घुसानी होती है वहां वह अत्यधिक गरम बातें और नारेबाजी शुरू कर देते हैं। मास्टरजी के अनुसार धनी किसान पूंजीवादी कृषि में 'फंसे' हैं। हमने जब इस मूर्खता पर बात की और बताया कि उन अर्थों सभी छोटे पूंजीपति पूंजीवादी व्यवस्था में "फंसे" होते हैं, तो वे बातों की जलेबी पारने लगे! हमने उनकी आलोचना करते हुए यह लिखा था:

"जिन अर्थों में धनी किसान पूँजीवादी व्यवस्था में "फँसे" हैं, उन अर्थों में तो अपेक्षाकृत सभी छोटे और ग़ैर-इजारेदार पूँजीपति पूँजीवादी व्यवस्था में "फँसे" हैं और उस आधार पर पीआरसी सीपीआई (एमएल) को पूँजीवादी उदारीकरण के कारण अरक्षित अवस्था में पहुँच गये सारे छोटे पूँजीपतियों का आह्वान करना चाहिए कि वह एकजुट होकर कॉरपोरेट पूँजी का विरोध करें और पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय को इन बेचारे छोटे पूँजीपतियों से यह वायदा भी करना चाहिए कि जब उनके नेतृत्व में समाजवादी सत्ता आयेगी, तो वह उन्हें बरबाद होने से बचायेंगे और मुनाफ़ा सुनिश्चित करने वाला "उचित दाम" मुहैया करायेंगे! निश्चय ही धनी किसान व कुलक वर्ग और समूचे छोटे व मँझोले पूँजीपति वर्ग का एक हिस्सा भी उत्तरोत्तर पूँजीवादी विकास के साथ बरबाद होगा, ठीक उसी प्रकार जैसे धनी किसानों व कुलकों की पूँजीवादी लूट की वजह से ग़रीब और सीमान्त किसानों का अच्छा-ख़ासा हिस्सा 'हरित क्रान्ति' के बाद बरबाद होता आया है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होता है कि छोटे और मँझोले पूँजीपति वर्ग (जिसमें कि धनी किसान-कुलक वर्ग भी शामिल है) को बचाने का नारा सर्वहारा वर्ग बुलन्द करे और सर्वहारा वर्ग और आम मेहनतकश आबादी को उनका पिछलग्गू बना दे! सर्वहारा वर्ग उन वर्गों की मुक्ति की परियोजना नहीं पेश करता है जो कि नियमित तौर पर उजरती श्रम का शोषण कर मुनाफा कमाते हैं; सर्वहारा वर्ग उन शोषक वर्गों से उन वर्गों की मुक्ति की परियोजना पेश करता है, जो स्वयं उजरती श्रमिक, अर्द्धसर्वहारा हैं या जो स्वयं उजरती श्रम के शोषक नहीं हैं। यह मार्क्सवाद-लेनिनवाद का 'क ख ग' है। टुटपुँजिया रूमानीवाद, नरोदवाद और लोकरंजकतावाद के मस्तिष्क ज्वर के कारण अपने आप को मार्क्सवादी कहने वाला व्यक्ति भी कैसी अगड़म-बगड़म बक सकता है, इसे समझना है, तो आप खेती के सवाल पर पीआरसी सीपीआई (एमएल) की पुस्तिका पढ़ सकते हैं!" (वारुणी, **मौजूदा धनी किसान आन्दोलन और कृषि प्रश्न पर कम्युनिस्ट आन्दोलन में मौजूद अज्ञानतापूर्ण और अवसरवादी लोकरंजकतावाद के एक दरिद्र संस्करण की समालोचना**)

परन्तु देखिये वे इसका क्या जवाब देते हैं:

"इसमें सबसे पहले ये हमारे तथ्य को स्वीकारते हैं कि *धनी किसान पूंजीवादी कृषि के दलदल में फंस गये हैं।* इनका यह कहना कि "जिन अर्थों में धनी किसान पूँजीवादी व्यवस्था में "फँसे" हैं, उन अर्थों में तो अपेक्षाकृत सभी छोटे और ग़ैर-इजारेदार पूँजीपति पूँजीवादी व्यवस्था में "फँसे" हैं … या यह कि निश्चय ही धनी किसान व कुलक वर्ग और समूचे छोटे व मँझोले पूँजीपति वर्ग का एक हिस्सा भी उत्तरोत्तर पूँजीवादी विकास के साथ बरबाद होगा इसका यही अर्थ है। बाकी तो इनके आरोप हैं जो इन्होंने हम पर लगाये हैं और वह सब के सब बनावटी हैं। हमारे लेखों में ऐसा कुछ भी नहीं कहा गया है जिससे ये अर्थ निकले कि पीआरसी को पूँजीवादी उदारीकरण के कारण अरक्षित अवस्था में पहुँच गये सारे छोटे पूँजीपतियों का हमें आह्वान करना

चाहिए कि वह एकजुट होकर कॉरपोरेट पूँजी का विरोध करें, हालांकि, हम ये मानते हैं कि अगर ये स्वयं विरोध कर रहे हैं तो हमारा काम इन्हें रोकना, इसके बरक्स इनकी आलोचना करना या विरोध करना तो कतई नहीं हो सकता है।...

"हालांकि हम यह मानते हैं कि सर्वहारा वर्ग इनके विरोध को अपने कार्यनीतिक लचीलेपन के तहत ध्यान देने या उपयोग में लाने योग्य महत्व जरूर देगा और देना चाहिए और अगर कॉर्पोरेट के इन छिछले बेशर्म हिमायतियों, जो अतिक्रांतिकारिता का दंभ भरते हैं, की तरह ऐसा करने से इनकार करते हैं तो अक्षम्य अपराध करते हैं।" (कॉर्पोरेट को लाल सलाम कहने की बेताबी में शोर मचाती 'महान मार्क्सवादी चिंतक' और 'पूंजी के अध्येता' की 'मार्क्सवादी मंडली' का घोर राजनैतिक पतन [2], यथार्थ अंक 12)

यहां आप खुद देख सकते हैं कि मास्टरजी छोटे पूंजीपति वर्ग के प्रति अपनी हमदर्दी नहीं छिपा पाते हैं। मूल प्रश्न यह नहीं था कि छोटा पूंजीपति वर्ग बर्बाद होता है या नहीं। यह तो मार्क्स के समय से ही सभी मार्क्सवादी जानते हैं कि उत्तरोत्तर पूंजीवादी विकास के साथ छोटी पूंजी को बड़ी पूंजी निगलती है, उजाड़ती है। सवाल यह था कि क्या इस आधार पर छोटे पूंजीपति वर्ग के साथ सर्वहारा वर्ग का कोई मोर्चा बनता है, या क्या इसके आधार पर छोटा पूंजीपति वर्ग समाजवादी क्रान्ति में सर्वहारा वर्ग का मित्र बन जाता है? इस बुनियादी सवाल को गोल करके माटसाब अपनी बच्चा पार्टी के सामने यह सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं, मानो हमने उनकी किसी बात को स्वीकार कर लिया हो! ऐसे आत्मसम्मोहन में जीने वाले मूर्ख व्यक्ति को क्या कोई भी संजीदगी से ले सकता है?

हमने साफ़ कहा कि *"सर्वहारा वर्ग उन वर्गों की मुक्ति की परियोजना नहीं पेश करता है जो कि नियमित तौर पर उजरती श्रम का शोषण कर मुनाफा कमाते हैं; सर्वहारा वर्ग उन शोषक वर्गों से उन वर्गों की मुक्ति की परियोजना पेश करता है, जो स्वयं उजरती श्रमिक, अर्द्धसर्वहारा हैं या जो स्वयं उजरती श्रम के शोषक नहीं हैं। यह मार्क्सवाद-लेनिनवाद का 'क ख ग' है।"* परन्तु मास्टरजी की ज़ुबान इस प्रश्न पर लरजने लगती है और वह येन-केन-प्रकारेण धनी किसानों और कुलकों को बचाने के लिए तरकीब ढूंढने का प्रयास करते हैं। इस बार यह तरकीब 'लचीलेपन' की है। दरअसल, यह लचीलापन मास्टरजी की रीढ़ की हड्डी का है। उनका लचीलेपन का अर्थ वर्ग सहयोग है। दूसरा, वह कहते हैं कि किसानों का आह्वान इन्होंने नहीं किया बल्कि जब आंदोलन शुरू हो गया तो उन्होंने इसमें क्रान्तिकारी सम्भावना ढूंढ निकाली! **पाठक खुद ही बताएं: इससे क्या फर्क पड़ता है!? असली बात है कि आप इस कुलक आन्दोलन की पूंछ में कंघी करने के लिए मचल गए! वैसे भी आपकी इतनी औक़ात नहीं थी, कि आपके आह्वान पर धनी किसान आन्दोलन करते! आपकी इतनी ही औक़ात थी कि जब नरोदवादियों व तमाम टटपुंजिया कुलक यूनियनों के आह्वान पर धनी किसान-कुलक आन्दोलन शुरू हो जाता, तो उसके चारों ओर नाच-नाचकर आप अपनी वर्ग सहयोगवाद की पिपहरी बजाते।** टिटहरी के समान माटसाब को भी बीच-बीच गुमान होता रहता है कि वह आसमान निगल जाएंगे! सच्चाई यह है कि दिल्ली के बॉर्डर पर किसानों की भीड़ देखकर इनका क्रान्तिकारी ईमान डोल गया और वह कुलकों के बैजू बावरा लाभकारी मूल्य राग गाने लगे!

ख. मास्टरजी के कल्पनालोक में छोटे पूंजीपतियों का बाज़ार से भरोसा उठ गया है!

मास्टरजी कहते हैं कि किसानों का बाज़ार से भरोसा उठ गया है और कहते हैं कि हम उनके इस दावे का खण्डन नहीं कर पाए हैं। वह हमें उद्धृत कर अपना पूरा (कु)तर्क इस प्रकार करते हैं:

""धनी किसान की बात करें तो पिछले एक दशक के दौरान खुले बाज़ार में दामों में आये भयंकर उतार-चढ़ाव के कारण वह भी इसके आकर्षण से विमुख हुए हैं|"

"इसी "यथार्थ" से प्रस्थान करते हुए कि किसानों का 'मुक्त व्यापार' से भरोसा उठ गया है और खुले बाज़ार में ऊँचे दाम नहीं मिलने के कारण किसान आबादी क़ानूनी लाभकारी मूल्य की माँग कर रही है, हमारे लेखक महोदय इस माँग को उनके अस्तित्व रक्षा की लड़ाई से जोड़ देते हैं।"

"वे बताते हैं कि "हम देख सकते हैं कि इसमें ये चाहे और जो करें, लेकिन "बाजार से भरोसा उठने" की बात का ये खंडन नहीं कर रहे हैं।"

...

"अरे महानुभावों, हमने ये नहीं कहा कि इनका ऊंचे दाम से मोहभंग हो गया है। हमने ये कहा है कि "इनका बाजार से मोहभंग हो गया है।"" (कॉर्पोरेट को लाल सलाम कहने की बेताबी में शोर मचाती 'महान मार्क्सवादी चिंतक' और 'पूंजी के अध्येता' की 'मार्क्सवादी मंडली' का घोर राजनैतिक पतन [2], यथार्थ अंक 12)

देखिये! मास्टरजी यहां कुतर्क देते हैं कि 'किसान' ऊंचे दाम पर फसल बेचना चाहते हैं लेकिन बाज़ार में नहीं। **ग़लत! जो बात मौजूदा किसान आन्दोलन का नेतृत्व खुद ही नहीं कह रहा है, वह बात *माटसाब* उसके मुंह में जबरन घुसाने की कोशिश कर रहे हैं।** किसान आन्दोलन के नेतृत्व ने बार-बार कहा कि हमें निजी ख़रीदारों को बेचने में कोई एतराज़ नहीं है, बशर्ते उनके लिए एमएसपी बाध्यताकारी हो। **वे केवल एमएसपी के ज़रिये राजकीय संरक्षण चाहते हैं, कीमतों के लिए एक ऊंचा *फ्लोर लेवल* चाहते हैं। उनका मुक्त बाज़ार से कोई बैर नहीं है। श्रमशक्ति को ख़रीदने के लिए तो वह मुक्त बाज़ार के हमेशा से हिमायती रहे हैं और राज्यसत्ता द्वारा खेतिहर मज़दूरों की श्रमशक्ति की ख़रीद-फ़रोख़्त के विनियमन के (श्रम कानूनों द्वारा) सदा से विरोधी रहे हैं। लेकिन अपनी समूची फसल को सरकार को ही बेचने की कोई जिद उनकी नहीं है और न ही उनका मुक्त बाज़ार से भरोसा उठा है। वह अपना हाथ खुला रखना चाहते हैं। यदि मुक्त बाज़ार में कीमतें एमएसपी के ऊपर जाती हैं (जो कि कई फसलों के लिए अक्सर जाती हैं) तो वे उसे मुक्त बाज़ार में बेचना चाहते हैं, अन्यथा कम-से-कम एमएसपी पर (वैसे सरकार भी कई बार एमएसपी से ऊंचे दाम देती है) सरकार को बेचना चाहते हैं। ऐसी व्यवस्था तो कोई भी पूंजीपति पसन्द करेगा, इसका मुक्त बाज़ार से भरोसा उठने से कोई रिश्ता नहीं है। यही वह कड़वी सच्चाई है, जिसे *माटसाब* जैसे अवसरवादी स्वीकार नहीं करना चाहते।**

दूसरी बात, *माटसाब* मान रहे हैं कि किसान ऊंचे दामों पर बेचना चाहते हैं। **यह ऊंचा दाम क्या है? यह ऊंचा दाम एक ऐसी कीमत से ही मिल रहा है जो कि कुलकों-धनी किसानों को बेशी मुनाफा मुहैया कराती हैं। इस बेशी मुनाफे या ट्रिब्यूट के बिना खाद्यान्नों के दाम कहीं नीचे होंगे। इसके अलावा, यह ऊंचा दाम ही है जिसकी वजह से व्यापक मेहनतकश जनता को खाद्यान्नों की महंगाई का सामना करना पड़ता है।** जैसा कि आप देख सकते हैं, *माटसाब* समझ नहीं पा रहे हैं कि लाभकारी मूल्य का समर्थन करें तो कैसे करें; कभी वह "लाभकारी मूल्य के दूसरे रूप" की बात करते हैं, तो कभी "किसानों के पूंजीवाद और मुक्त बाज़ार से भरोसा उठने" की बात करते हैं। लेकिन ये तमाम द्रविड़ प्राणायाम करने के बावजूद वह शर्मनाक स्थिति में हमें बरामद होते हैं। हमने तब भी उनसे साफ़ पूछा था:

"लेखक महोदय को यह बताना चाहिए कि लाभकारी मूल्य धनी किसानों-कुलकों को ऊँचे दाम देता है या नहीं? और यदि लाभकारी मूल्य मुनाफ़ा सुनिश्चित करने वाले ऊँचे दाम हैं, तो वह "उचित दाम" हैं या नहीं? और अगर वह उचित दाम नहीं हैं, तो उनके अनुसार "उचित दाम" क्या है और जब भारत में समाजवाद और सर्वहारा सत्ता आयेगी तो वह कौन सा "उचित दाम" देंगे? और अगर वह लाभकारी मूल्य (profitable remunerative price) नहीं होगा, तो यह बात भी उन्हें अपने लेख में स्पष्ट तौर पर लिखनी चाहिए और धनी किसानों-कुलकों को बतानी चाहिए?" (वारुणी, **मौजूदा धनी किसान आन्दोलन और कृषि प्रश्न पर कम्युनिस्ट आन्दोलन में मौजूद अज्ञानतापूर्ण और अवसरवादी लोकरंजकतावाद के एक दरिद्र संस्करण की समालोचना**)

परन्तु वे लाभकारी मूल्य के सवाल पर सीधा जवाब नहीं देते हैं और उसे 'नये रूप' में व्यवस्था-विरोधी बताते हैं! सोवियत संघ की कीमत नीति के बारे में तो वह जो भयंकर अज्ञानतापूर्ण और मूर्खतापूर्ण बातें करते हैं और किस प्रकार बार-बार उस पर बातें बदलते हैं, वह हम अपनी आलोचना की पिछली दो किश्तों में दिखला चुके हैं। "उचित दाम" के जुमले का भी हम विश्लेषण हमारे दूसरे जवाब में कर चुके हैं। मास्टरजी यहां कोई नयी बात नहीं करते हैं। हां, वह किसानों का खुले बाज़ार में भरोसा उठने के सबूत के तौर पर गोदी मीडिया के किसी चैनल पर चली बहस में किसान नेता के वक्तव्य का हवाला देते हैं। बकौल मास्टरजी टीवी पर बहस में किसान नेता ने कहा कि किसान सरकार से सौदा करना चाहते हैं। मार्क्स ने कहा था कि यदि जो दिखता है वही सच होता तो विज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं होती। *माटसाब* ने टीवी पर किसान नेता की बात सुनी और कुलकों के आज्ञाकारी टट्टू के समाने उसे मान लिया! यह वर्ग सहयोगवाद भी नहीं, बल्कि वर्ग पुछल्लावाद है। *पहली बात तो यह दिन भर गोदी मीडिया के चैनल देखने के कारण ही मास्टरजी की दिमाग़ी हालत आज इस मुकाम पर पहुंची है कि उन्हें ज़मीनी तथ्यों, रिपोर्टों और मार्क्सवाद की कोई जानकारी नहीं है और वह हर जगह दिनभर बकवास लिखते रहते हैं।* न ही मौजूदा किसान आंदोलन के मांगपत्रक में और न ही सरकार से वार्ताओं के दौरान ही धनी

किसान आंदोलन के नेतृत्व की ऐसी कोई मांग रही है। दूसरी, बात इससे यह साबित भी नहीं होता कि किसानों का बाज़ार से भरोसा उठ गया है बल्कि वह अपने मुनाफ़े के लिए सरकार से संरक्षण मांग रहे हैं, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं। हमने पिछली बार भी कहा था कि किसानों की एक बड़ी आबादी निजी व्यापारियों के साथ नकदी फसलों का सौदा करने का हक़ भी चाहती है बशर्ते नकदी फसलों के दाम ज़्यादा हों।

सीधी सी बात है: धनी किसान व कुलक अपने विकल्प हमेशा खुले रखना चाहते हैं: जब बाज़ार में दाम ऊंचे हों, तो बाज़ार में बेचा, वरना एमएसपी का *फ्लोर लेवल* दाम तो है ही, जिस पर सरकार को बेचा जा सकता है। यह है व्यवहारवादी धनी किसान वर्ग की रणनीति, जिसे *माटसाब* मुक्त बाज़ार और पूंजीवाद से भरोसा उठना समझ बैठे हैं। छोटे पूंजीपति वर्ग के अन्य हिस्से, मसलन, छोटे कारखानेदारभी सस्ते चीनी आयातों (मसलन, सस्ते इस्पात के आयात, आदि) पर सरकार से ऊंचे टैरिफ व करों/शुल्कों की मांग करते हैं, ताकि वे बाज़ार में प्रतिस्पर्द्धी बने रह सकें। देखा जाय तो यह मुक्त बाज़ार की स्वयंस्फूर्त शक्तियों पर सरकार द्वारा हस्तक्षेप व विनियमन की मांग है। क्या इसका यह अर्थ है कि छोटे कारखानेदारों का मुक्त बाज़ार से भरोसा उठा गया है? हमने पहले भी दिखलाया है कि छोटा पूंजीपति वर्ग मुक्त बाज़ार में अपने लिए राजकीय संरक्षण चाहता है क्योंकि वह जानता है कि बड़ी पूंजी के समक्ष प्रतिस्पर्द्धा में वह टिक नहीं पाएगा। इस प्रकार के राजकीय संरक्षण की मांग को मुक्त बाज़ार व पूंजीवाद से भरोसा उठना *माटसाब* जैसे बौद्धिक बौने ही समझ सकते हैं।

ग. मास्टरजी ने 'था' और 'है' में अन्तर खोजा!

मास्टरजी लेख में हमपर लोगों को ठीक तरह से उद्धृत न करने का आरोप लगाते हैं:

“ऐसे में इन क़ानूनों की वापसी पर अड़ना और *वैधानिक गारंटी वाले लाभकारी मूल्य की माँग के ज़रिये पूरे किसान समुदाय को संगठित व जागृत करना तथा इस तरह कॉरपोरेट पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध उठा खड़ा होना नितान्त आवश्यक है।*” *(किसानों की मुक्ति और मज़दूर वर्ग, यथार्थ अंक-9, ज़ोर हमारा)*

"सबसे पहली बात तो यह है कि इसे 'यथार्थ अंक' – 9 में से उद्धृत बताया गया है जो कि ग़लत है। दरअसल उपरोक्त उद्धरण पीआरसी की बुकलेट से लिया गया है, हालांकि उसमें भी बहुत बारीकी से हाथ की सफाई की गई है। ‘था’ को ‘है’ बना दिया गया है।

"इससे एक बात तो साफ है कि वह बहस में किसी को ठीक से उद्धृत करना भी जरूरी नहीं समझते हैं। ‘था’ और ‘है’ से यहां मूल अर्थ बदलता है। हम यह अपनी बात के बतौर पेश ही नहीं कर रहे हैं। सभी लोग जानते हैं कि पीआरसी का मानना है कि हम एमएसपी को लेकर यह बात कहते ही नहीं हैं।" (कॉर्पोरेट को लाल सलाम कहने की बेताबी में शोर मचाती ‘महान मार्क्सवादी चिंतक’ और ‘पूंजी के अध्येता’ की ‘मार्क्सवादी मंडली’ का घोर राजनैतिक पतन [2], ‘यथार्थ’, अंक-12)

हमसे एक तकनीकी चूक हुई है और हमें इसके लिए अफ़सोस है। जहां मास्टरजी ने लेख में लिखा था "नितान्त आवश्यक था" उसकी जगह हमने "नितान्त आवश्यक है" लिख दिया और उनकी पुस्तिका की जगह 'यथार्थ' के एक अन्य लेख को उद्धृत कर दिया। यह एक तकनीकी चूक है। **लेकिन असल बात यह है कि इससे मास्टरजी के मूल तर्क में कोई अन्तर नहीं आता है और न ही हमारी आलोचना बदलती है।** लेकिन मास्टरजी को लगा कि उन्हें सोने की खान मिल गई है! वह यह बताने लगते हैं कि 'था' और 'है' में बहुत बड़ा अंतर है। वह बताते हैं कि अगर हम 'था' लगाएं तो यह तथ्य बन जाता है और अगर हम 'है' लगाते हैं तो यह पीआरसी का मूल्यांकन बन जाता है। क्या बकवास है? इन्हें तो हिन्दी का नया शब्दकोश ही बनाना पढ़ेगा क्योंकि शब्दों के जिन अर्थों से दुनिया वाकिफ़ है, माटसाब उन्हें नहीं मानते, बल्कि शब्दों के उनके अपने ही मनमाने अर्थ हैं! लेकिन हे मास्टरजी! हमारा प्रश्न भी आपके मूल्यांकन पर ही था। और हम इस आपके अनेकों उद्धरणों से सिद्ध कर चुके हैं। आपके अनुसार लाभकारी मूल्य की मांग एक ‘क्रान्तिकारी अन्तर्य’ रखने वाली मांग है जो बुर्जुआ सीमाओं का उल्लंघन करती है! और मास्टरजी खुद इस प्रश्न पर बताते हैं कि उनके अनुसार किस प्रकार लाभकारी मूल्य की क्रान्तिकारी मांग बन गई है जो कि मौजूदा व्यवस्था का अतिक्रमण कर सकती है। वह कहते हैं:

"हम मानते हैं कि वैधानिक दर्जा वाले एमएसपी की मांग बाह्य आवरण में पुराना होते हुए यह मूलत: खरीद गारंटी के रूप में एक नयी मांग में परिणत

हो गई है और इसलिए अपने अंतर्य में क्रांतिकारी तत्व धारण करने में सक्षम हुई है, क्योंकि यह (खरीद गारंटी) एक ऐसी मांग है जो बुर्जुआ समाज व व्यवस्था की सीमा का अतिक्रमण करने के लिए किसानों को प्रेरित करती है, करेगी या कर सकती है।"

इस वाक्य में जिन शब्दों से फर्क पड़ता है वह हैं इस मांग के ज़रिये पूरे किसान समुदाय को संगठित करना व जागृत करना व इजारेदार पूंजीपति वर्ग के खिलाफ़ उठ खड़े होने को आवश्यक मानना। यह 'था' लगने से तथ्य नहीं बन जाता है। हमारा सवाल इसे नितान्त आवश्यक मानने से है। हम नहीं मानते कि यह नितान्त आवश्यक था। इसे नितान्त आवश्यक *माटसाब* इसलिए ही बताते हैं क्योंकि उनके अनुसार यह मांग क्रान्तिकारी अन्तर्य लिए हुए है। आप देख सकते हैं कि *माटसाब* इस तकनीकी भूल के आधार पर अपना पूरा तर्क की *डिसओन* करने के चक्कर में हैं।

मूल बात यह है कि माटसाब मानते हैं कि अपने तथाकथित "नये रूप" में (जिसके आविष्कार का श्रेय निश्चय ही किसान आन्दोलन के नेतृत्व को नहीं जाता है, बल्कि स्वयं *माटसाब* को जाता है) एमएसपी की मांग पूंजीवादी व्यवस्था के सीमान्तों का अतिक्रमण करती है और इसलिए *माटसाब* इस पर पूरे किसान आबादी को गोलबन्द और संगठित करना नितान्त आवश्यक है। क्या *माटसाब* मानते हैं कि अब ऐसा करना नितान्त आवश्यक नहीं है? अगर वह ऐसा नहीं मानते तो फिर यहां पर 'था' या 'है' से फर्क क्या पड़ा? जीरो बटे सन्नाटा!

हमने इसपर यह आपत्ति रखी थी:

"यानी लाभकारी मूल्य का समर्थन करने, उसे वैधानिक अधिकार बनाने की माँग करना और इस माँग पर *समूचे किसान समुदाय* को संगठित करना आज क्रान्तिकारियों का कार्यभार है! **मतलब, लेखक महोदय के अनुसार, पहले तो कम्युनिस्टों को धनी किसानों-कुलकों की मुनाफ़ाख़ोरी की माँग के समर्थन में ग़रीब मेहनतकश किसानों और मज़दूरों को उनका पुछल्ला बनाना चाहिए और फिर छोटे पूँजीपति वर्ग (खेतिहर बुर्जुआज़ी) की ज़मीन पर खड़े होकर बड़ी पूँजी (कॉरपोरेट पूँजीपति वर्ग) का विरोध करना चाहिए। संक्षेप में, पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन को टुटपुँजिया रूमानीवाद, लोकरंजकतावाद और नरादेवाद में बहकर मज़दूर आन्दोलन को छोटी पूँजी की सेवा में सन्नद्ध करने का नुस्खा बता रहे हैं!"**

'था' और 'है' से मास्टरजी के हमारे उपरोक्त मूल्यांकन पर कोई भी असर नहीं पड़ता है। जैसा कि पाठक देख सकते हैं, मास्टरजी बस इसका मूल सवाल का जवाब देने से बचने का प्रयास करने के लिए इस्तेमाल करते हैं, लेकिन बच नहीं पाते हैं।

घ. माटसाब का एक और मूर्खतापूर्ण दावा: "बड़ी इजारेदार पूंजी का प्रवेश नैसर्गिक नहीं बल्कि कानून के जरिये है!"

गाली-गलौच में अपने चुनौटी भर दिमाग की ऊर्जा खर्च करने के साथ *माटसाब* यह बोलते हैं कि:

"जब कानून बनाकर कॉर्पोरेट का कृषि पर नियंत्रण कायम किया जा रहा है तो यह स्वत:स्फूर्त और नैसर्गिक तो नहीं ही माना जा सकता है। लेकिन जिसे कॉर्पोरेट के दरबार में लोटपोट होना है उसके लिए ऐसा मानना किसी भी समय मुश्किल होगा।" (कॉर्पोरेट को लाल सलाम कहने की बेताबी में शोर मचाती 'महान मार्क्सवादी चिंतक' और 'पूंजी के अध्येता' की 'मार्क्सवादी मंडली' का घोर राजनैतिक पतन [2], यथार्थ अंक 12)

एकदम उल्टी बात। पहली बात तो यह है कि अब तक संरक्षणकारी कानून बनाकर इजारेदार पूंजी के प्रवेश को भारतीय राज्यसत्ता ने भारतीय पूंजीवादी खेती में विशेष तौर पर खेती उत्पाद के विपणन के क्षेत्र में घुसने से रोक रखा था। एपीएमसी एक्ट का मूल सारतत्व यही है कि कोई भी निजी ख़रीदार निर्धारित सरकारी मण्डियों में निर्धारित एमएसपी पर ही खेती उत्पाद ख़रीद सकता है। निश्चित तौर पर, स्वयं एमएसपी को लेकर कोई कानून नहीं है, लेकिन एपीएमसी एक्ट धनी किसानों-कुलकों को एक राजकीय संरक्षण देता था, जिसके मातहत निजी ख़रीदार सरकारी मण्डियों से एमएसपी पर ख़रीदने के लिए बाध्य थे। निश्चित तौर पर, किसान स्वयं किसी भी निजी ख़रीदार के पास जा सकते थे, लेकिन स्वयं निजी कारपोरेट ख़रीदार उनके पास नहीं जा सकते थे। यह खेती उत्पाद के विपणन के क्षेत्र में भारतीय राज्यसत्ता द्वारा कुलकों-धनी किसानों को दिया गया कानूनी संरक्षण था, जिसकी एक समय में भारत के पूंजीवादी विकास में एक उपयोगी भूमिका थी, लेकिन अब नहीं रही। भारतीय राज्यसत्ता बस अब उस कानून को हटाकर कानूनी संरक्षण समाप्त कर रही है,

जो कि खेतिहर पूंजीपति वर्ग को भारत की पूंजीवादी राज्यसत्ता ने एक समय दिया था। जैसा कि आप देख सकते हैं, *माटसाब* सिर के बल खड़े हैं। भारतीय राज्यसत्ता कानून बनाकर कारपोरेट को खेती के क्षेत्र में घुसा नहीं रही है (खेती के क्षेत्र में घुसने के लिए कारपोरेटों को किसी कानून की आवश्यकता भी नहीं पड़ती है) बल्कि उस कानून को हटा रही है, जो कि कारपोरेटों को खेती के क्षेत्र में पूर्ण प्रवेश से रोकता था।

दूसरी बात, हम यह पहले भी दिखा चुके हैं कि कारपोरेट पूंजी के प्रवेश की प्रक्रिया तो खेती में एक लम्बे समय से जारी थी, हालांकि उसके कुछ विशिष्ट हिस्सों में कारपोरेट पूंजी कुलकों-धनी किसानों को मिलने वाले राजकीय संरक्षण की वजह से नहीं प्रवेश कर सकती थी। अब तक भारतीय खेती में कारपोरेट पूंजी का जितना प्रवेश हुआ है, वह किसी कानून के ज़रिये नहीं हुआ है, बल्कि पूंजीवादी की स्वाभाविक आर्थिक प्रक्रिया में ही हुआ है। और जितना प्रवेश नहीं हो पाया था, वह कुलकों-धनी किसानों के पक्ष में बने संरक्षणकारी कानूनों के कारण नहीं हो पाया था। **उनके हटने के साथ कारपोरेट पूंजी का प्रवेश जिस रूप में बढ़ेगा, वह राज्य द्वारा कानून बनाकर किसी आर्थिकेतर उत्पीड़न की प्रक्रिया से नहीं बढ़ेगा, बल्कि स्वाभाविक आर्थिक गति से बढ़ेगा।** लेकिन मास्टरजी के 'कॉरपोरेट' पूंजीवाद और उपनिवेशवाद में कोई अन्तर नहीं रह जाता है। जिस प्रकार उपनिवेशवाद आर्थिकेतर उत्पीड़न व असमान विनिमय के ज़रिये उपनिवेशों के माल उत्पादकों व जनता को लूटता है, उसी प्रकार कारपोरेट पूंजीवाद राज्य की सहायता से कानून बनवाकर आर्थिकेतर ज़ोर-ज़बर्दस्ती से धनी किसानों व कुलकों को लूटता है, मानो स्वयं कारपोरेट पूंजी के पास वह आर्थिक शक्ति ही नहीं थी कि वह खेती के क्षेत्र में घुस पाता! *माटसाब* की यह बातें अब पागलपन की सीमाओं को स्पर्श कर रही हैं।

आगे वह पुन: छोटे पूंजीपतियों के दर्द से विचलित होकर कराह उठते हैं:

"हम तो यह कह रहे हैं कि: अगर वह बेशी मूल्य के विनियोजन में अपने हिस्से को क़ायम रखने में सक्षम नहीं रह पाता है और बर्बाद हो जाता है या अगर वह महसूस करता है या कर रहा है कि वह बर्बाद हो जाने वाला है या उसका बर्बाद होना तय है, ***तो क्या तब भी उसका भरोसा पूंजीवाद से नहीं हिलेगा, जरा भी नहीं हिलेगा?***" (कॉर्पोरेट को लाल सलाम कहने की बेताबी में शोर मचाती 'महान मार्क्सवादी चिंतक' और 'पूंजी के अध्येता' की 'मार्क्सवादी मंडली' का घोर राजनैतिक पतन [2], 'यथार्थ' अंक 12)

नहीं मूर्खाधीश, ज़रा भी नहीं हिलेगा। यह मास्टरजी की वर्ग रूपांतरण की तरकीब है कि जब एक छोटा पूंजीपति अतिरिक्त श्रम की लूट नहीं कर पाता है तो उसका पूंजीवाद से भरोसा उठ जाता है! अब तो लगता है मास्टरजी को अपने संगठन में चोरों, लुटेरों, दलालों, जॉबरों, बिचौलियों, छोटे कारखानेदारों समेत हर उस व्यक्ति को शामिल कर लेना चाहिए जो मज़दूर को लूट न पाया हो! यह व्यक्ति खुद को मार्क्सवादी किस मुंह से कहता है यह भी गहरे शोध का विषय है। लेनिन बताते हैं कि:

"That capital is oppressive, that it is a predator, that it is the original source of anarchy—in this the petty bourgeois is ready to agree with the proletariat. But there the similarity ends. The proletarian regards capitalist economy as a robber economy, and therefore wages a class struggle against it, shapes his whole policy on unconditional distrust of the capitalist class, and in dealing with the question of the state his first concern is to distinguish which class the "state" serves, whose class interests it stands for. **The petty bourgeois, at times, gets "furious" with capital, but as soon as the fit of anger is over he goes back to his old faith in the capitalists, to the hopes placed in the "state".., of the capitalists!**" (Lenin, **The Petty-Bourgeois Stand on the Question of Economic Disorganization,** June, 1917, *emphasis ours*)

यह है टुटपुंजिया वर्गों, छोटे पूंजीपति वर्ग का स्वभाव, उसकी प्रकृति। लेकिन *माटसाब* को लगता है कि जब छोटे पूंजीपति वर्ग का एक हिस्सा पूंजीवादी विकास के साथ उजड़ता या उजड़ने का ख़तरा देखता है, तो उसका पूंजीवाद से थोड़ा-सा, इत्ता-सा, ज़रा-सा तो विश्वास उठ ही जाता होगा!!! यह वर्ग को न समझने के समान है। जो भी वर्ग उजरती श्रम के नियमित शोषक हैं और उनकी अर्थव्यवस्था का आधार ही उजरती श्रम का शोषण है, वे पूंजीवाद के उत्तरोत्तर विकास के साथ प्रतिस्पर्द्धा में न टिक पाने या उजड़

जाने की सूरत में पूंजीवाद-विरोधी नहीं हो जाते हैं। न ही आज का कुलक-धनी किसान हुआ है। वह महज़ मौजूदा सरकार का विरोध कर रहा है जो उस राजकीय संरक्षण को छीन रही है, जो उसे पांच दशकों से मिला हुआ था। इसीलिए तो धनी किसानों-कुलकों के नेता राज्य के चुनावों में महज़ भाजपा-विरोधी प्रचार कर रहे थे। अगर यह वर्ग पूंजीवाद-विरोधी हो गया होता या पूंजीवाद से उसका विश्वास उठ रहा होता, तो इन कानूनों पर सरकार से टकराहट शुरू होने बाद भी वह खेतिहर मज़दूरों की मज़दूरी पर कैप न फिक्स कर रहा होता। देखें:

https://caravanmagazine.in/labour/covid19-dominant-caste-panchayats-in-punjab-pass-resolutions-to-reduce-labour-wages?fbclid=IwAR2AAfZr-DdISRabJ1Wh_d9gMcVrduAzWS3EPvGQ0i1Agx9zr12nNWfSSM4

https://www.hindustantimes.com/chandigarh/punjab-panchayats-pass-resolutions-to-fix-labourers-wages-threaten-dissenters-with-social-boycott-hefty-fines/story-0mqWRvVsqi94UJ4lFeiAGK.html?fbclid=IwAR0178hvJaLksS-Vt5MOML7fkNQ6qUSW_nlOPoTJrnBjLApl_0_lITkrR-U

ये आंखों में चुभती ऐसी सच्चाइयां हैं, जिसे कोई ईमानदार व्यक्ति नज़रन्दाज़ नहीं कर सकता है, लेकिन *माटसाब* जो देखना चाहते हैं, वह देखते हैं और फिर ऊल-जुलूल नतीजों पर पहुंचते हैं। लेनिन ने लिखा है:

"Any atternpt to frighten capitalists with the prospect of bankruptcy is like advising against speculating in shares on the Stock Exchange because many fortunes have been lost in this way. Capital *gains* from the bankruptcy of a rival capitalist or of a rival nation, because in this way capital becomes more concentrated." (Lenin, **Collapse of Second International**)

आप देख सकते हैं, एक बार फिर से, कि इस बौद्धिक बौने को किसी की मदद से मार्क्सवाद-लेनिनवाद के बुनियादी सिद्धान्तों का पेंसिल टिका-टिकाकर अध्ययन करने की सख़्त आवश्यकता है। क्योंकि छोटी पूंजी का इसका जो गहरा प्रेम और सहानुभूति है, मार्क्सवाद-लेनिनवाद से उसका दूर-दूर तक कोई रिश्ता नहीं है।

ड.- मास्टरजी का किसानों में वर्ग विभेदों को ढांपने का नवनरोदवादी प्रयास

मास्टरजी हमारे द्वारा उनके 'वास्तविक किसान' के जुमले पर प्रश्न उठाने पर वह तिलमिला कर कहते हैं:

""सिर्फ “किसानों” से वायदा किया है और यह नहीं बताया है कि वह किस किसान की बात कर रहे हैं।”अरे महाशय जी, हम तमाम संघर्षरत किसानों से मुखातिब हैं। इसमें देहाती पूंजीपति वर्ग शामिल नहीं है।

"इसलिए ही वास्तविक और अवास्तविक किसान की बहस भी यहां बेमानी है। हम यहां वास्तविक किसान शब्द का प्रयोग उस छोटी ग्रामीण पूंजीपति वर्ग को छोड़कर बाकी सभी तबकों के लिए कर रहे हैं। हम मानते हैं कि धनी किसानों का व्यापक हिस्सा कॉर्पोरेट की कृषि पर चढ़ाई के काल में वह धनी तबका है जिसकी तबाही शुरू होने वाली है और ऐसा होना अवश्यंभावी है। अगर वह हमारा विरोध नहीं करता है, जिसकी नयी परिस्थितियों में संभावना ज्यादा है, तो उसके साथ सर्वहारा राज्य संयम और समझाने-बुझाने के रास्ते से पेश आएगा और बहुत हद तक उसे अपने भाग्य पर छोड़ देगा जैसा कि एंगेल्स ने कहा था। जाहिर है अगर वह सर्वहारा राज्य का विरोध करेगा तो उसका पहले बलपूर्वक दबाया जाना और बाद में उसके नहीं सुधरने पर उसे एक वर्ग के बतौर खत्म करना जरूरी होगा।" (कॉर्पोरेट को लाल सलाम कहने की बेताबी में शोर मचाती ‘महान मार्क्सवादी चिंतक’ और ‘पूंजी के अध्येता’ की ‘मार्क्सवादी मंडली’ का घोर राजनैतिक पतन [2], ‘यथार्थ’ अंक-12)

इस सवाल में भी *माटसाब* किसान आबादी के वर्ग विभेदीकरण को एक सच्चे नवनरोदवादी के समान ढंकने का प्रयास करते हैं। हम पहले ही देख चुके हैं कि जिन कुलकों-धनी किसानों का यह आन्दोलन है, वह ग्रामीण पूंजीपति वर्ग का ही अंग हैं। *माटसाब* किसी तरह उन्हें ग्रामीण पूंजीपति वर्ग

से बाहर करना चाहते थे और इसके लिए लेनिन का इस्तेमाल करने का भी असफल प्रयास कर रहे थे। लेनिन और स्तालिन 'किसान बुर्जुआजी' यानी धनी किसानों व कुलकों को पूंजीपति वर्ग का हिस्सा ही मानते थे, जैसा कि इस परिशिष्ट के मूल लेख में हम ससन्दर्भ और सप्रमाण विस्तार से दिखला चुके हैं।

यदि *माटसाब* ग्रामीण पूंजीपति वर्ग को छोड़कर भी 'वास्तविक' और 'अवास्तविक' किसान की बात कर रहे होते, तो भी वह बकवास ही होती। क्योंकि पूंजीवादी किसान कोई कम 'वास्तविक' किसान नहीं होता है। केवल और केवल पूंजीवादी भूस्वामी के बारे में कहा जा सकता है कि वह वास्तव में किसान नहीं है, बल्कि महज़ एक पूंजीवादी ज़मीन्दार है जो कि लगानजीवी है। लेकिन हर पूंजीवादी किसान एक किसान ही होता है। जाहिर है, *माटसाब* को किसान शब्द का अर्थ नहीं पता है। मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी खेती के तीन आधारभूत वर्ग होते हैं: पूंजीवादी किसान, खेतिहर मज़दूर और भूस्वामी। किसानों में वह 'वास्तविक' और 'अवास्तविक' किसान जैसा कोई टुटपुंजिया विभाजन नहीं करते हैं, जैसा कि *माटसाब* करने का प्रयास करते हैं ताकि अपनी कुलकपरस्ती को छिपा सकें।

तीसरी बात, आज धनी किसान व कुलक वर्ग सर्वहारा वर्ग का विरोध ही कर रहा है। कैसे? पहला, लाभकारी मूल्य की व्यवस्था को बनाए रखने और बढ़ाने की मांग करके, क्योंकि यह मांग सीधे सर्वहारा वर्ग और मेहनतकश आबादी के खिलाफ जाती है, और कम्युनिस्ट सर्वहारा वर्ग के ही हिरावल होते हैं, जो *माटसाब* शायद भूल चुके हैं। दूसरा, मौजूदा आन्दोलन में कारपोरेट पूंजी से बेशी मूल्य के विनियोजन में अपनी हिस्सेदारी को कायम रखने की कशमकश करते हुए भी धनी किसानों-कुलकों ने खेतिहर सर्वहारा व अर्द्धसर्वहारा को दबाने-कुचलने और लूटने का काम एक पल को भी नहीं रोका है, चाहे वह उनके द्वारा खेतिहर मज़दूरों व अर्द्धसर्वहारा आबादी पर जुर्माने लगाकर जबरन उन्हें प्रदर्शन में घसीटकर लाने का सवाल हो या फिर खेतिहर मज़दूरों की मज़दूरी पर कैप फिक्स करने की बात हो। *माटसाब* किस दुनिया में हैं? महोदय, बड़ी पूंजी से अन्तरविरोध के बावजूद खेतिहर पूंजीपति वर्ग, यानी धनी किसान व कुलक, बदस्तूर मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश आबादी के शोषण और उत्पीड़न में संलग्न हैं, वे लगातार हमारे खिलाफ़ ही जा रहे हैं। दरअसल, बड़ी पूंजी से झगड़ा ही इस बात का है कि गांवों में ग़रीब मेहनतकश किसानों व खेतिहर मज़दूरों को लूटने का मुख्य अधिकार किसके पास हो। **महज़ मोदी सरकार की मुख़ालफ़त करने से ये धनी किसान व कुलक प्रगतिशील या सर्वहारा वर्ग के मित्र नहीं हो जाते हैं।**

चौथी बात, अन्त में *माटसाब* अपने लिए फिर से एक सच्चे अवसरवादी की तरह कुछ अस्पष्टता और सम्भावनाएं छोड़ देते हैं कि 'कल ज़रूरत पड़ी तो धनी किसानों-कुलकों का दमन करेंगे', वगैरह। *लेकिन असली बात यही है कि आप किसी की गोद में बैठकर उसका दमन नहीं कर सकते। यह शारीरिक रूप से और भौतिक रूप से सम्भव नहीं है।*

आदमी अगर प्रचण्ड मूर्ख हो तो एक ही पैराग्राफ में कितनी मूर्खताओं को अटा सकता है, इसका प्रातिनिधिक उदाहरण चाहिए तो आप *माटसाब* के लेखन को पढ़ सकते हैं।

इस प्रश्न पर वह अपनी पुरानी बातों को दुहरा रहे हैं। हम इसका जवाब पहले लेख में और ऊपर ही दे चुके हैं।

च. किसान प्रश्न पर मार्क्सवाद के इतिहास-लेखन में घुसे मास्टरजी!

मज़ेदार बात देखिये। **पहले *माटसाब* किसान आन्दोलन पर एक पूरी पुस्तिका निकालते हैं (जो बिहार के कम्युनिस्ट आन्दोलन में एक हास्यास्पद रूप से दर्दनाक दुर्घटना के रूप में लम्बे समय तक याद की जाएगी) और फिर कहते हैं कि मैंने तो किसान प्रश्न पर मार्क्सवादी अवस्थिति के बारे में कुछ कहा ही नहीं! 'मैं तो रस्ते से जा रहा था-मैं तो कुलक गीत गा रहा था-तुझको मिर्ची लगी तो मैं क्या करूं?' कैसा मूर्ख निर्लज्ज व्यक्ति है यह!** इस मुद्दे पर निपट नंगा होने पर मास्टरजी देखिए कैसे हेर-फेर करने लगते हैं। यह आदमी बौद्धिक तौर पर कितना बेईमान है आप इसका उदाहरण देखिए। हमने *माटसाब* को उद्धृत करते हुए लिखा था:

“ ‘Many have gone through the PRC’s booklet, but, unlike our ‘educators’, none would say and nor has anyone said that it is about any history or deals with the “history of socialist experiments in the USSR” and “Marxist-Leninist

theories on Peasant question." Those who have read will confirm that not a single paragraph, nay, not even a single sentence has been used for this purpose. There is no discussion, nor any quote either from history or Marx, Engels, Lenin or Stalin on peasant question.

" 'How can just mentioning the words *like in the USSR* become history of socialist experiments in the USSR or history of the policies adopted during transition to Socialism?' " (What the new apologists of corporates are and how they fight against the revolutionaries, 'The Truth', Issue 11)

"लेकिन पीआरसी के लेखक महोदय को याद दिलाना पड़ेगा कि जब आप ऐसे शब्द इस्तेमाल करते हैं कि "सोवियत संघ के समान" उचित दाम एक समाजवादी राज्य दे पाएगा और आप यह बताते नहीं कि यह उचित दाम क्या होगा और ऊपर से आप यह बात उस आन्दोलन में कहते हैं जो कि कतई अन्यायपूर्ण लाभकारी मूल्य के लिए लड़ा जा रहा है, तो उसका बिल्कुल यही मतलब है कि आपको सोवियत संघ के इतिहास के बारे में कुछ नहीं पता है; कि आप लाभकारी मूल्य को उचित दाम बता रहे हैं; कि आप सोवियत संघ पर भी ऐसा लाभकारी मूल्य देने की नीति को जबरन आरोपित कर रहे हैं, ताकि धनी किसानों-कुलकों की गोद में बैठ सकें। इसलिए, लेखक महोदय आपने सोवियत संघ के इतिहास के प्रति अज्ञान दिखाने की मूर्खता कर दी है और अब इस मूर्खता को ढांपने-तोपने का प्रयास करने का कोई लाभ नहीं होगा।

*"किसान आन्दोलन पर पुस्तिका लिखकर इस संगठन के नेता महोदय यह कहते हैं कि उन्होंने किसान प्रश्न पर मार्क्सवादी-लेनिनवादी नज़रिये के बारे में बात ही नहीं की है!*हालांकि अपनी पुस्तिका में जब वह हर दूसरी बात के बाद कहते हैं कि ''मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी राजनीति के अनुसार'' तो शायद उन्हें इसका आशय नहीं पता था। तो जनाब, क्या आपने अपनी पुस्तिका में बुर्जुआ नज़रिये से बात की है? मास्टरजी! रटन्त विद्या यहां काम नहीं आएगी। *आप जब मौजूदा धनी किसान आन्दोलन में समाजवादी व्यवस्था द्वारा दिए जाने वाले "उचित दाम" की बेहद भ्रामक बात करते हैं और समाजवादी व्यवस्था के बारे में लम्बी-चौड़ी हांकते हैं जो रूसी समाजवाद के प्रयोग के अनुभव का विकृतिकरण करती है तो इसे और क्या कहा जाएगा? यह कुलकों की पूंछ में कंघी करने के लिए किया जा रहा निकृष्ट कोटि का अवसरवाद है।"* (सनी, **धनी किसान-कुलक आन्दोलन पर सवार हो आनन-फानन में सर्वहारा क्रान्ति कर देने को आतुर पटना के दोन किहोते की पवनचक्कियों से भीषण जंग**)

परन्तु अब ये अपनी रीढ़ की हड्डी का अद्भुत लचीलापन दिखाते हुए उत्कृष्ट बेली डासंर्स को भी शर्मिन्दा कर देते हैं और अपनी बात ही बदल देते हैं और कहते हैं कि:

"हमने ऊपर लिखा है (कृपया अंग्रेजी में "द ट्रुथ" से दिया उद्धरण देखें) कि हमने किसान प्रश्न के इतिहास पर मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन और स्टालिन को उद्धृत करते हुए कोई चर्चा नहीं की। लेकिन इसे ये तोड़-मरोड़कर कहते हैं कि हम कह रहे हैं कि हमने "किसान प्रश्न पर मार्क्सवादी-लेनिनवादी नजरिए से चर्चा ही नहीं की।" इनके अनुसार, 'मार्क्सवादी-लेनिनवादी नजरिये से किसी देश विशेष के किसी खास किसान आंदोलन का ठीक उसके ही अंदर की द्वंद्वात्मकता को समझने व समझाने के अर्थ में मूल्यांकन करना और उसके आधार पर कार्यभार निकालना' तथा 'किसान प्रश्न पर मार्क्सवादी-लेनिनवादी नजरिये के इतिहास पर बात करना' एक ही बात है।" (कॉर्पोरेट को लाल सलाम कहने की बेताबी में शोर मचाती 'महान मार्क्सवादी चिंतक' और 'पूंजी के अध्येता' की 'मार्क्सवादी मंडली' का घोर राजनैतिक पतन [2], 'यथार्थ' अंक 12)

सबसे पहले हमने सवाल उठाया था कि इस व्यक्ति को किसान प्रश्न पर मार्क्सवादी समझदारी नहीं है और न ही सोवियत इतिहास के बारे में कोई समझदारी है। तब *माटसाब* ने बोला कि 'मैंने तो मार्क्सवादी नज़रिये से बात की ही नहीं थी और सोवियत यूनियन के सामूहिकीकरण के इतिहास की बात भी नहीं की थी!' और अब यह कहते हैं कि दरअसल इन्होंने किसान प्रश्न पर मार्क्सवादी नज़रिये के *इतिहास-लेखन* की कोई बात नहीं की है! आप देख सकते हैं कि यह एक डरपोक चूहे की तरह किस प्रकार इस बिल से उस बिल में भाग रहा है। क्या ऐसे बातबदलू और बेईमान व्यक्ति को कोई गम्भीरता से ले सकता है, जो अपनी मासूम बच्चा पार्टी को मूर्ख बनाने के लिए तरह-तरह के करतब दिखाए जा रहा है?

छ. लाभकारी मूल्य से छुप-छुपकर प्यार करने का मज़ा लेते हुए मास्टरजी!

कहना पड़ेगा कि पटना के दोन किहोते की असली दलसीनिया शायद लाभकारी मूल्य ही है। लेकिन उससे *माटसाब* की मुहब्बत छुपछुपकर होती है। इसलिए लाभकारी मूल्य के समर्थन से इंकार करते हुए मास्टरजी कहते हैं कि:

"वे हमें उद्धृत करते हुए कहते हैं कि हमारे अनुसार'कुल मिलाकर देखें तो पीआरसी सीपीआई (एमएल) लाभकारी मूल्य की मांग का समर्थन करती है।' और इसके खण्डन में कहते हैं कि पीआरसी ने "'कुल मिलाकर' एमएसपी का या लाभकारी मूल्य का कहीं भी और किसी भी दृष्टिकोण से समर्थन नहीं किया गया है"। (कॉर्पोरेट को लाल सलाम कहने की बेताबी में शोर मचाती 'महान मार्क्सवादी चिंतक' और 'पूंजी के अध्येता' की 'मार्क्सवादी मंडली' का घोर राजनैतिक पतन [2], 'यथार्थ' अंक 12)

परन्तु *माटसाब* नारेबाजियों और लम्बी चौड़ी बातों के बाद यह भी कह देते हैं कि:

"हम इस रूप में, इसका [लाभकारी मूल्य का-लेखक] इस नये रूप में तथा इस अर्थ में तो समर्थन करते ही हैं, तो एक हद तक वह सही हैं, लेकिन एक ही हद तक और एकमात्र इसी अर्थ में कि इसका अंतर्य न सिर्फ इसके बाह्य प्रतिक्रियावादी आवरण को तोड़ता है अपितु बुर्जुआ राज्य की सीमा को भी लांघता है, बशर्ते किसान आंदोलन तीव्र हो और राज्य से उसका मौजूदा टकराव और तीखा हो। यानी जहां तक यह मांग अपने नये रूप में क्रांतिकारी अंतर्य वाले तत्वों को समाविष्ट करती है, वहीं तक और ठीक-ठीक उसी सीमित अर्थ में हम इसका स्वागत करते हैं क्योंकि इससे किसानों को बुर्जुआ राज्य की सीमाओं को समझने में मदद मिलेगी। इसमें कोई शक नहीं कि हम इस मांग में बुर्जुआ सीमा को पार करने की मौजूद संभावना व शक्ति का बेइंतहां स्वागतपूर्ण तरीके से इस्तेमाल करना चाहते हैं।" (कॉर्पोरेट को लाल सलाम कहने की बेताबी में शोर मचाती 'महान मार्क्सवादी चिंतक' और 'पूंजी के अध्येता' की 'मार्क्सवादी मंडली' का घोर राजनैतिक पतन [2], 'यथार्थ' अंक 12)

असल में पूरे लेख में उन्होंने यह कई बार स्वीकार किया है कि वह लाभकारी मूल्य का समर्थन करते हैं लेकिन यह बोलने में सीधे शर्म भी आती है तो इसपर थोड़ी पोलोनियस की भाषा का इस्तेमाल कर उसे बदलने की कोशिश करते हैं। हम माटसाब का आह्वान करते हैं: 'जब (कुलकों से) प्यार किया तो डरना क्या!' यही वजह है कि *माटसाब* ने यह दावा भी किया था कि सोवियत संघ में सामूहिक फार्मों को सोवियत राज्यसत्ता लागत से 30-40 प्रतिशत ऊंचा लाभकारी मूल्य देती थी और *माटसाब* के अनुसार इसी वजह से तो सामूहिक किसानों का जीवन स्तर इतना ऊंचा उठ गया था! हमने इस परिशिष्ट के मूल लेख और उससे पहले की अपनी आलोचना की किश्त में इस पूरे मज़ाकिया दावे को तथ्यों समेत खण्डित किया है और दिखलाया है कि सोवियत संघ में सामूहिक किसानों को किसी प्रकार का लाभकारी मूल्य नहीं मिलता था और उनके जीवन स्तर में उन्नयन का कारण शोषण का खात्मा, निजी सम्पत्ति का खात्मा और श्रमशक्ति का माल न रह जाना, तथा एक नियोजित समाजवादी अर्थव्यवस्था का होना था, न कि ऊंचे दामों का प्राप्त होना। इस सवाल पर *माटसाब* को सांप सूंघ गया है। उपरोक्त पैराग्राफ में आप देख सकते हैं कि *माटसाब* लाभकारी मूल्य का समर्थन करने के लिए कुलकों की छोटी सी खटिया पर कैसे करवटें बदल रहे हैं (ज्ञात हो कि धनी किसानों व कुलकों में अपने मज़दूरों को छोटी खाट देने का प्रचलन है जिससे कि वे ढंग से सो न सकें और खेत की ठीक से रखवाली कर सकें)। लेकिन इस तमाम प्राणायाम के बावजूद वह लाभकारी मूल्य के प्रति अपना समर्थन छिपा नहीं पाते हैं।

अंत में...

आप देख सकते हैं कि हमारे *माटसाब* ने धनी किसान आंदोलन की पूंछ पकड़ने की निम्नस्तरीय सस्ती हरक़त को तमाम तरीके से बौद्धिक चोगा पहनाने की कोशिश की है लेकिन कामयाब नहीं हो पाए हैं। हमारे द्वारा उनकी पोल खोली गई तो वह बहस में जवाब दर जवाब नंगे होते गए हैं। 'यथार्थ' के 12वें अंक में छपे उनके लेख में वे अपना बौद्धिक केंचुल नृत्य पूरा करके सफेद झूठ बोलने, बात बदलने और गाली-गलौच पर उतारू हो गए हैं। उन्होंने जो नया लिखा है उसमें साम्राज्यवाद के बारे में, आर्थिक संकट के बारे में मार्क्सवादी समझदारी और रूस के क्रान्ति-पूर्व इतिहास के बारे में जानकारी का पूर्ण अभाव स्पष्ट तौर पर सामने आ गया है। हम इस व्यक्ति को मूर्खता के समान भयंकर प्रकोप मानते हैं, जो कि इस समय सोशल मीडिया के ज़रिये तमाम ऐसे असावधान युवाओं को नुकसान पहुंचा रहा है जो कि मार्क्सवाद में दिलचस्पी रखते हैं और साथ ही विशेष तौर पर पटना के कम्युनिस्ट दायरों के पढ़े-लिखे संजीदा साथियों के लिए एक सतत् प्रताड़ना का काम कर रहा है।